

बाल अधिकारों के 30 साल

30 प्रकार,
30 कहानियां



30 पत्रकार, 30 कहानियां

(बाल अधिकारों के तीस साल)

संपादन

- राकेश कुमार मालवीय
- सचिन कुमार जैन

प्रकाशक

विकास संवाद

ई-7/226, प्रथम तल, धनवंतरी कॉम्प्लेक्स के सामने

अरेरा कॉलोनी, शाहपुरा, भोपाल, मध्यप्रदेश

vikassamvad@gmail.com

www.mediaforrights.org / www.vssmp.org

(0755-4252789)

वर्ष

2019

प्रतियां

500

ले-आउट डिजाइन

अमित सक्सेना

मुद्रक

अनुराग ऑफसेट

भूमिका

प्रिय साथियों

सलाम,

‘समय’ के नजरिए से यह महत्वपूर्ण मौका है जब हम गांधी के 150 साल मना रहे हैं तो बाल अधिकार समझौते के भी तीस साल पूरे हो रहे हैं। यूं तो कुछ करने के लिए हर वक्त ही महत्वपूर्ण लगता है, लेकिन जब कोई वक्त इस तरह से महत्वपूर्ण बनकर आता है तो वह हमें एक समीक्षा करने का मौका देता है।

तीस साल पहले दुनिया भर के देशों ने बच्चों की स्थितियों पर एक बहुत महत्वपूर्ण संकल्प किया था, जाने क्यों इसे एक समझौते की तरह देखा जाता है। यदि समझौते की जगह संकल्प शब्द का इस्तेमाल हुआ होता तो बहुत संभव था कि हम और बेहतर मुकाम पर खड़े होते।

जी हां, भारत में बाल अधिकार के नजरिए से अभी बहुत कुछ किया जाना बाकी है। शिक्षा और स्वास्थ्य मानकों पर ही नहीं बच्चों के अन्य अधिकारों के नजरिए से भी चुनौतियां सामने खड़ी हैं और हमारी गति मंद है। हम पत्रकारों की तरफ से तीस सालों के मौके पर क्या हो सकता था? कहानियां, जमीनी कहानियां और अच्छा क्या!

हमने पिछले दो दशक में कोशिश है ऐसे पत्रकार साथियों का एक नेटवर्क तैयार करने की जो बच्चों के मुद्दों को अपने दिल के करीब महसूस करते हैं और उन पर लिखते हैं। अपने-अपने मीडिया संस्थानों में हम उनकी रिपोर्ट को पढ़ते रहे हैं, यहां पर हमने कोशिश की है कि वह साझा रूप से इन कहानियों को लिखें और वह एक साझे रूप में बाल अधिकार समझौते के तीस साल के मौके पर तीस कहानियों के रूप में देश के सामने आएँ। इसका प्रतिफल आपके हाथों में है।

यहां पर अलग-अलग जिलों के हमारे साथी पत्रकारों ने खूब मेहनत करके यह रिपोर्ट तैयार की हैं, अलग-अलग ढंग से देखा है। हम उम्मीद करते हैं कि यह रिपोर्ट आपको मध्यप्रदेश में बच्चों के जमीनी परिस्थितियों की एक तस्वीर दिखा पाएंगी। हम आशा करते हैं कि हम जहां हैं आने वाले समय में उससे बेहतर होंगे।

इन सभी पत्रकार साथियों का धन्यवाद, क्योंकि धन्यवाद के अलावा हम इन्हें कुछ और दे भी नहीं सकते। बच्चों के प्रति यह संवेदनशीलता निश्चित ही बेहतर कल की उम्मीद देती रहेगी।

आभार

विकास संवाद के साथी

अनुक्रमणिका

शीर्षक	स्थान	रिपोर्टर
1. सरकारी पुनर्वास पूरा, बच्चों की जिंदगी में सब कुछ अधूरा	धार	प्रेम विजय पाटिल
2. आंकड़ों के करतब पर खड़ा बाल स्वास्थ्य	खंडवा	आसिफ सिद्दीकी
3. जर्जर व्यवस्थाओं के बीच ककहरा सीखने की मजबूरी	खंडवा	सुमित अवस्थी
4. पोषण के लिये जूझते परधान बच्चे	भोपाल	पूजा सिंह
5. नौनिहालों की फिक्र किसे है ?	भोपाल	संदीप कुमार
6. समग्र बाल नीति का वचन कब पूरा करेगी सरकार	भोपाल	राकेश कुमार मालवीय
7. श्योपुर में बच्चों को पोषण केंद्रों में ले जाने से कतरा रहे हैं परिजन ?	शिवपुरी	दीपक गोस्वामी
8. स्मार्ट फोन, सोशल मीडिया जनित यौन अपराध	भोपाल	डॉ. दीपक राय
9. हीरा खदानों में जाने वाली माएं नहीं दे पा रही हैं बच्चों को पोषण	पन्ना	मनीष चंद्र मिश्र
10. अब भी बच्चों की स्थिति चिंताजनक	भोपाल	जावेद अनीस
11. खेलने की उम्र में दूसरों के हाथ खिलौना बन रहा बचपन	ग्वालियर	रूपाली ठाकुर
12. शिशु मृत्यु दर : जागरुकता का अभाव	भोपाल	सुमित शर्मा
13. सबसे ज्यादा अन्न उपजाने वाले जिले में कुपोषण का कहर	होशंगाबाद	वीरेन्द्र तिवारी
14. Why Mother tongue is important for quality education's?	Bhopal	Sravani Sarkar
15. Right to Education is an enabling right in itself	Gwalior	Niharika Parashar

शीर्षक	स्थान	रिपोर्टर
16. देश में सबसे असुरक्षित बचपन	भोपाल	हरेकृष्ण दुबोलिया
17. कब तक गीता रहेगी अशिक्षित	धार	अतुल पोरवाल
18. जानबूझकर गलती करने वालों को जागरूक नहीं किया जा सकता	भोपाल	शरबानी बैनर्जी
19. बुंदेलखंड में हर दूसरे दिन गायब हो रहे नाबालिग	छतरपुर	नीरज सोनी
20. बच्चों को अपनी भाषा और बोली में शिक्षा क्यों नहीं	भोपाल	अमिताभ पांडेय
21. सरकार और समाज के साथ अभिभावकों को भी लेनी होगी जिम्मेदारी	चंबल	शिवप्रताप सिंह
22. कुपोषित आदिवासी बच्चों के लिए सरकार की अधूरी तैयारी!	धार	एकता शर्मा
23. क्योंकि जिन्दगी ना मिलेगी दोबारा	भोपाल	पवन श्रीवास्तव
24. बच्चों की दौड़ नंबरस तक...	भोपाल	ए. जयजीत
25. नशे में बच्चे	भोपाल	रोहित वर्मा
26. संप्रेक्षण गृह के मौजूदा सवाल	भोपाल	अशोक गंगराड़े
27. किसान के बच्चे, न इज्जत, न पैसा, न भविष्य	शहडोल	अखिलेश शुक्ला
28. Slapped if we asked for food	Bhopal	Shuchita Jha
29. किताबों से दूर मजदूरी को मजबूर सहरिया जनजाति के बच्चे	विदिशा	सुमित कुमार
30. भविष्य के युवाओं को गढ़ने का जरूरी औजार है थियेटर	भोपाल	सचिन श्रीवास्तव

सरकारी पुनर्वास पूरा, बच्चों की जिंदगी में सब कुछ अधूरा

करीब 15 हजार बच्चे शिक्षा के अधिकार से दूर हैं
और सरकारी तंत्र कहता है ऑल इज़ वेल



प्रेम विजय पाटिल

विकास की परिभाषा को समाज शास्त्री भली-भांति समझाते हैं, लेकिन मैदानी स्तर पर उस परिभाषा के क्या मायने हैं यह अपने आप में एक चिंता का विषय है। सरदार सरोवर बांध के डूब प्रभावितों की कई पीढ़ाएं हैं, लेकिन उनके बच्चों की तकलीफ अपने आप में बहुत बड़ी है। ये बच्चे अब इसलिए स्कूल नहीं जाते हैं क्योंकि पुनर्वास स्थल से स्कूल इतनी दूर बना दिए गए हैं कि वहां पहुंचने में ही थकान आ जाती है। कुछ ऐसे स्थान हैं, जहां पर पहुंचने में बच्चियों को डर लगता है। यह तो स्कूल की बात हुई। आंगनवाड़ियों का भी यही हाल है।

10 साल की संगीता डाबर अपने गांव कड़माल में पहले बहुत अच्छे से पढ़ाई कर रही थी, लेकिन उसकी पढ़ाई अब प्रभावित हो गई है। पहले तो उसे यह समझ में नहीं आया कि जिस घर पर वह पैदा हुई थी वहां अचानक से उसे क्यों जाना पड़ रहा है? हर रोज उसके घर पर पानी के स्तर यानी वाटर लेवल की चर्चा क्यों हो रही है? वह समझती उसके पहले आंगन पर नर्मदा का पानी पहुंच चुका था। उधर, तेजी से नर्मदा कंट्रोल अथॉरिटी के आदेश का पालन किया जा रहा था और इधर सरदार सरोवर डेम से प्रभावित धार जिले के कड़माल गांव में पानी बढ़ता जा रहा था। यदि एक शहर में नदी के किनारे किसी का मकान हो तो शायद वह उस शहर का धनाढ्य



वर्ग माना जाएगा, लेकिन नर्मदा पट्टी के क्षेत्र में जहां भी लोग बसे हैं वह गरीब हैं मजबूर हैं। और उन गरीब मजदूरों को भी यहां से विस्थापित कर दिया गया है। उनके दर्द की लंबी कहानी है। संगीता जैसे कई बच्चियां हैं, जो अब स्कूल नहीं जा पा रही हैं। इनका स्कूल जाना इसलिए मुश्किल है क्योंकि पहले तो इनके माता-पिता ने करीब 2 महीने तक खाने के लिए संघर्ष किया। जब वे खाने के लिए संघर्ष कर रहे हों तो उस समय स्कूल की बात करना बेमानी भी था। इस तरह की एक संगीता नहीं है, बल्कि हजारों बच्चियां हैं जो अलग-अलग कारणों से स्कूल से बहुत दूर हैं।

यदि स्कूल जाने के तैयार भी करते हैं तो इन बच्चियों को रास्ते पार करने में बहुत कठिनाई होती है। एक तरफ शिक्षा अधिकार कानून कहता है कि बस्ती से 1 किलोमीटर की दूरी पर स्कूल होना चाहिए, लेकिन यहां स्थिति यह है कि पुनर्वास क्षेत्र में ही स्कूल काफी दूर-दूर बना दिए गए हैं। जबकि पुनर्वास करते वक्त इन सब बुनियादी बातों का ध्यान रखना चाहिए था। धार जिले के अंदरूनी गांव कोटड़ा, गेहलगांव, कड़माल, बोलखेड़ा, मलबाड़ी सहित निसरपुर की यह समस्या बहुत आम है। इन क्षेत्रों में

बच्चों को आंगनवाड़ी भी नसीब नहीं हो पा रही है। जहां आंगनवाड़ी खोल दी, वहां के हालात बहुत अधिक बुरे हैं। सभी जगह बाल अधिकारों का हनन हो रहा है। हर दिन किशोरावस्था के बच्चे कुक्षी और उसके आसपास के क्षेत्र में मजदूरी करने के लिए आते हैं तो यह देखकर एक अजीब पीड़ा होती है। हमारी मानसिकता है कि सस्ते में मजदूर उपलब्ध हो और इसी के चलते बाल श्रम करवाने से पीछे भी नहीं हटते हैं।

- प्रेमविजय पाटिल नईदुनिया, धार के ब्यूरो प्रमुख हैं

आंकड़ों के करतब पर खड़ा बाल स्वास्थ्य

इस समय गांव में केवल 5 कुपोषित बच्चे दर्ज हैं,
जबकि अन्य सूत्रों के अनुसार ये संख्या फिलहाल दोगुनी है



आसिफ सिद्दीकी

ये है खंडवा जिला मुख्यालय से करीब 90 किलोमीटर दूर स्थित आदिवासी बहुल गांव चबूतरा। चबूतरा पहुंचने के लिए पक्का मार्ग है। 145 परिवारों की आबादी करीब एक हजार है। मुख्य मार्ग से जुड़ा होने के बावजूद ये गांव भी खालवा ब्लॉक के अधिकांश गांव की तरह कुपोषण, बीमारी, भुखमरी और पलायन से अछूता नहीं है। गांव में आंगनवाड़ी भी है और सभी बच्चों का लेखा-जोखा भी मौजूद है। मुख्य मार्ग से करीब पांच सौ मीटर उबड़ खाबड़ मार्ग से जब गांव में प्रवेश करें तो यहां टट्टे, बांस और बल्लियों से बने हुए मकान नजर आ जाएंगे। इन मकानों के बीच अब कुछ पक्के मकान भी नजर आने लगे हैं। गांव में शून्य से पांच वर्ष के 105 बच्चे आंगनवाड़ी में दर्ज हैं।

कार्यकर्ता सुगनाबाई कास्टे के अनुसार इस समय आंगनवाड़ी में पांच कुपोषित बच्चे दर्ज हैं। इनमें से दो बच्चे ऐसे हैं जिन्हें तीन से अधिक बार पोषण पुनर्वास केंद्र में भर्ती कराना पड़ा है। इस साल अंतरराष्ट्रीय बाल अधिकार समझौते को तीस साल पूरे हो रहे हैं। ऐसे में आंकड़ों की रस्सी पर करतब दिखाते ये सरकारी आंकड़े मामूली हवा में औंधे मुंह गिरते नजर आएंगे। जिन आधारों और चिंताओं के साथ भारत ने इस समझौते पर हस्ताक्षर किए थे जमीनी स्तर पर होते नहीं दिख रहे हैं। गांव में



बैठे राजकुमार की गोद में 26 माह की है।

मीरा थी, मीरा राजकुमार और सुमन की बेटी है। मीरा को अब तक पांच बार एनआरसी में भर्ती कराया जा चुका है। राजकुमार ने बताया कि पैदाइश के समय से ही मीरा कमजोर है। उनकी दूसरी संतान गणेश भी जन्म के बाद से ही कुपोषित रहा है। ज्यादा कमजोरी और दुबला होने के चलते उसे भी एक बार एनआरसी में भर्ती कराना पड़ा है।

गांव की सुकई ने बताया कि उसकी एक साल की बेटी सिवनिया की हालत भी अन्य बच्चों से बेहतर नहीं है। सिवनिया पैदा तो स्वस्थ हुई थी, लेकिन धीरे-धीरे हालत कमजोर होती गई। सुकई यह स्वीकार करती हैं कि उन्हें आंगनवाड़ी से दलिया और टीका मिलता है।

राजकुमार के अनुसार उन्हें आंगनवाड़ी से हर माह पांच किलो अनाज मिलता है। इसमें दलिया और चावल शामिल है।

चबूतरा से छह किमी दूर स्थित ग्राम सेमलिया की भी यही हालत है। यहां भी करीब एक दर्जन बच्चे कुपोषण से जूझ रहे हैं। सेमलिया की प्यारी बाई ने बताया कि उसके पांच माह के बेटे सनी की जन्म के बाद से ही तबियत खराब रहती है। जन्म के पांच माह बाद भी उसका वजन तीन किलो से ज्यादा नहीं हो पाया

राजकुमार और सुकई बाई ने बताया कि उन्हें राशन दुकान से प्रति व्यक्ति माह में पांच किलो अनाज मिलता है। राजकुमार के अनुसार उसके परिवार में छह लोग हैं और 30 किलो अनाज 15 दिन में ही खत्म हो जाता है। बच्चों को मिलने वाले पूरक आहार से भी काम नहीं चलता। यह बाल अधिकारों का खुला हनन है। हमारे संविधान के अनुच्छेद 21 के अनुसार हर व्यक्ति को सम्मानपूर्वक जीने का अधिकार है।

राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण चक्र-4 के अनुसार खंडवा जिले में 43 फीसदी बच्चे स्टंटिंग (वृद्धि बाधित) हैं जो इस बात का सूचक है कि घरेलू खाद्य संकट विकट है।

सरकारी खाद्य योजनाएं कितनी पर्याप्त हैं?

खाद्य सुरक्षा कानून के तहत प्रति व्यक्ति प्रति माह 5 किलो अनाज की गारंटी कितनी पुख्ता है? कोरकू परिवार पोषण के मामले में अधिकतर परिवार प्रोटीन की कमी से जूझते हैं। ये कभी शिकार संग्राहक समुदाय था जब यह छूटा तो मांस मछली तक पहुंच घटती गई और अब तो खरीदकर नियमित खा पाना भी

कठिन है। इसी तरह अपने परम्परागत अनाजों से विमुख होने के कारण उनकी पोषण सुरक्षा की कमर टूट चुकी है। ऐसी कोई सरकारी पहल नजर नहीं आती जिसमें सरकार इन अनाजों को बढ़ावा देती हो जो मुखमरी को कम कर सकती है।

आधी आबादी हमेशा पलायन पर

सरकार काम दिलाने के लाख दावे करे, लेकिन वह पांचवी अनुसूची के खालवा ब्लॉक को कुपोषण और पलायन से अब तक नहीं रोक पाई है। चबूतरा में ही पूरे समय लगभग 50 प्रतिशत परिवार पलायन पर रहते हैं। ये लोग महाराष्ट्र, कर्नाटक, गुजरात सहित अन्य जिलों में लगभग बंधक की तरह काम करते हैं। पलायन में ही बाल अधिकारों का सबसे ज्यादा हनन होता है। शिक्षा और पोषण पर भी प्रभाव पड़ता है। खंडवा की स्पंदन समाज सेवा समिति का भी यही सर्वे है कि पलायन के साथ ही आदिवासियों से उनकी स्वास्थ्य शिक्षा के अधिकार छिन जाते हैं।

आंगनवाड़ी कार्यकर्ता सुगना कास्डे के अनुसार पलायन के दौरान इन आदिवासियों को चिकित्सा, स्वास्थ्य, भोजन और भोजन की भारी दिक्कत उठाना पड़ती है। कास्डे के अनुसार इसी

साल जुलाई 2019 में गांव के चंदरसिंह की इकलौती औलाद राजबीर का हरदा जिले के छीपाबड़ में पलायन के दौरान मौत हो गई।

- आसिफ सिद्दकी खंडवा के स्वतंत्र पत्रकार हैं।

जर्जर व्यवस्थाओं के बीच ककहरा सीखने की मजबूरी

बच्चे वोट बैंक नहीं

इसलिए कभी चुनावी मुद्दा नहीं बनी स्कूली शिक्षा



सुमित अवस्थी

जर्जर व्यवस्थाओं के बीच बच्चे ककहरा सीखने को मजबूर हैं। कागजों पर तो शिक्षा के अधिकार को एक दशक पूरा हो गया है, लेकिन वास्तव में अब भी हजारों बच्चों की पहुंच से शिक्षा दूर है। पलायन, गरीबी, जागरूकता का अभाव और बालश्रम जैसे कई कारण बच्चों को शिक्षा की राह पर आगे बढ़ने नहीं देते। इन चुनौतियों के बावजूद वंचित वर्ग के जो बच्चे स्कूलों तक पहुंच भी जाते हैं तो शिक्षकों का अभाव, भवन नहीं होने, पेयजल संकट, खराब रास्ते और सुविधाघरों पर ताले जैसे हालात उन्हें परिस्थितियों से सामंजस्य नहीं बैठाने देते।

यूं तो निजी स्कूलों में गरीब व वंचित वर्ग के बच्चों के लिए 25 फीसद सीट आरक्षित की गई हैं लेकिन इस अधिकार की शुरुआत ही भेदभाव से होती है। निजी स्कूलों में फीस देने वाले बच्चों को प्रवेश जनवरी माह से दिया जाता है और गरीब व वंचित वर्ग के बच्चे के लिए प्रक्रिया जून से शुरू होती है। ऐसे में बच्चा खुद को सबसे अलग खड़ा पाता है। पिछड़ने का क्रम यहीं से शुरू हो जाता है, हीन भावना घर कर जाती है और निजी स्कूल की निःशुल्क शिक्षा के इस अधिकार को छोड़कर वह परिस्थितियों के आगे पलायन कर जाते हैं। खंडवा जिले में आठ साल में 2922 ऐसे बच्चों ने निजी स्कूल छोड़ दिए हैं, जिन्हें शिक्षा



के अधिकार के तहत प्रवेश दिया गया था। इस आंकड़े से प्रदेश की स्थिति का अंदाजा लगाया जा सकता है।

मध्यप्रदेश में एक लाख से अधिक ऐसे बच्चे हैं जो शिक्षा का अधिकार मिलने के बाद निजी स्कूल छोड़ चुके हैं। प्रदेश में शिक्षा सत्र 2011-12 में आरटीई लागू हुआ। तब से आगे बढ़ते-बढ़ते यह कानून सरकारी प्रक्रियाओं में उलझकर रह गया है। देरी से प्रक्रिया के कारण जहां कई बच्चे इसके लाभ से वंचित रह जाते हैं, वहीं आधार कार्ड, समग्र आईडी जैसे दस्तावेज, वार्ड सीमा और पात्रता के कई प्रावधान रुकावट बन जाते हैं। निजी स्कूलों में कमजोर आर्थिक स्थिति वाले लोगों के बच्चों के साथ भेदभाव आरटीई पर भारी पड़ रहा है। आरटीई के बावजूद प्रवेश लेने वाले विद्यार्थियों की संख्या हर साल कम हो रही है।

हजारों अभिभावक अपने बच्चों को आरटीई के तहत प्रवेश नहीं दिला पाते। सबसे बड़ी विडंबना तो पंजीयन में ही सामने आती है। अधिकांश गरीब बस्तियों के बच्चे पॉश कॉलोनियों के निजी स्कूलों में आवेदन ही नहीं कर पाते। कई लोगों ने बस्तियों के पास दो-तीन कमरों में गैर सरकारी स्कूल खोल लिए हैं। सीट आवंटन में बस्ती के पास होने के कारण

यह स्कूल ही उन्हें सबसे पहले आवंटित होते हैं। निजी स्कूलों में फीस देने वाले बच्चों का प्रवेश जनवरी से शुरू हो जाता है और मार्च से बच्चे स्कूल जाने लगते हैं जबकि आरटीई के तहत उसी कक्षा में प्रवेशित होने वाले बच्चों को सीट आवंटित होते तक जुलाई माह आ जाता है। जुलाई-अगस्त में स्कूल पहुंचने वाला गरीब व वंचित वर्ग का बच्चा खुद को सबसे अलग खड़ा पाता है।

एनसीईआरटी द्वारा स्कूलों में किए गए सर्वे के मुताबिक म.प्र. के बच्चे देशभर में सबसे कमजोर श्रेणियों में पाए गए। एनुअल स्टेटस ऑफ एजुकेशन रिपोर्ट (एसईआर) के अनुसार मध्यप्रदेश में कक्षा पांच में केवल 34.1 फीसद बच्चे कक्षा दो के पाठ ठीक तरह से पढ़ सकते हैं। प्रदेश में पांचवी कक्षा के करीब 80 फीसद विद्यार्थी हिंदी नहीं पढ़ पाते। 70 प्रतिशत से अधिक को 100 तक गिनती नहीं आती।

कैग रिपोर्ट बताती है कि पहली से लेकर माध्यमिक स्तर के छात्रों का न तो अक्षर ज्ञान ठीक है और न ही भाषा ज्ञान। इस रिपोर्ट के मुताबिक पांचवी तक के 17 प्रतिशत बच्चे ही वर्णमाला पहचान सकते हैं। 23 फीसद ही गणित में 1 से 100 तक के अंक पहचान पाते हैं। महज 28

फीसद ही अंग्रेजी के सामान्य शब्द पढ़ पाते हैं।

नेशनल चाइल्ड लेबर प्रोजेक्ट के अंतर्गत प्रदेश के 17 जिलों में 59012 बाल मजदूर हैं। इसमें से सिर्फ 19072 ही स्कूल जाते हैं।

इंडस योजना के तहत 5 जिलों में 73119 बाल मजदूरों में से 28184 को स्कूल में नामांकित बताया जा रहा है। लगभग दो प्रतिशत स्कूलों में शिक्षक ही नहीं हैं। प्रदेश के 32 फीसद प्राथमरी स्कूलों में एक ही शिक्षक है। 5 प्रतिशत से अधिक स्कूलों में 100 विद्यार्थियों पर एक ही नियमित शिक्षक है। प्रदेश में 47 प्रतिशत शिक्षक अप्रशिक्षित हैं।

- सुमित अवस्थी नईदुनिया खंडवा के साथ संबद्ध हैं।

पोषण के लिये जूझते परधान बच्चे

सरकारी नीतियों की अदूरदर्शिता और पलायन समेत ऐसी वजहें हैं जिन्होंने परधान समुदाय में बच्चों के पोषण पर बुरा असर डाला है



पूजा सिंह

प्रकृति के सबसे अधिक करीब रहने वाले आदिवासी समुदायों में कुपोषण की समस्या प्रचंड रूप से सामने आती है। राष्ट्रीय पोषण मिशन की शुरुआत को डेढ़ वर्ष पूरे हो चुके हैं लेकिन आदिवासी बच्चों में अल्पपोषण, रक्ताल्पता, कद का न बढ़ना आज भी आम हैं।

ऐसा देश के अधिकांश इलाकों में देखने को मिल रहा है। दरअसल सरकार ने खाद्य और पोषण सुरक्षा को लेकर जो भी नीतियां बनाई हैं उनमें स्थानीयता का ध्यान नहीं रखा गया। भारत जैसे भौगोलिक और सांस्कृतिक विविधता वाले देश में सबके लिए समान भोजन की नीति अपने आप में गलत है। मंडला के घुघरा, मधुपुरी, टिकरी, शृंगारपुर, बुढ़ारखेड़ा, जहरमऊ, पीपरटोला, बीजेगांव, आमडोंगरी, मुगदरा आदि गांवों में महिलाओं और बच्चों पर अध्ययन के दौरान पाया कि अधिकांश गांवों में बच्चों की ऊंचाई तथा उनके वजन, उनकी आयु के अनुरूप नहीं थे। कुछ बच्चों में खून की कमी की समस्या भी देखने को मिली।

कई ऐसे बच्चे मिले जिनका वजन अपनी उम्र के औसत वजन से 5 किलोग्राम से 7 किलोग्राम तक कम था। गंभीर बात यह थी कि उसी क्षेत्र में रहने वाले सामान्य वर्ग से ताल्लुक रखने वाले बच्चों में पोषण की यह कमी देखने को नहीं मिली।

यह सवाल लाजिमी था कि आखिर परधान समुदाय के



बच्चों और स्त्रियों के पोषण के स्तर में ही कमी क्यों आ रही है? इसके कारणों का पता लगाना बहुत मुश्किल नहीं था। पारंपरिक खान-पान से दूरी इसकी सबसे अहम वजह थी।

घुघरा गांव की सरपंच लक्ष्मी वरकड़े कहती हैं कि बीफ और पोर्क समेत तमाम तरह का मांसाहार एक समय परधान समुदाय के पारंपरिक भोजन का मुख्य हिस्सा हुआ करता था। कोदो-कुटकी तथा सांवा आदि मुख्य अनाज हुआ करते थे लेकिन आधुनिकता की होड़ में समाज इनसे दूरी बनाने लगा। कथित सभ्य समाज की स्वीकार्यता की चाह में शिक्षित परधान आदिवासियों ने मांसाहार त्याग दिया और मोटे अनाजों की जगह गेहूं और चावल खाना शुरू कर दिया। बीसवीं सदी में एक लंबे अरसे तक परधान समुदाय पर विशद अध्ययन करने वाले वेरियर एल्विन ने यह दर्ज किया है कि सुअर का मांस परधानों की जीवनशैली का महत्वपूर्ण हिस्सा रहा है। यहां तक कि उनमें विवाह आदि समारोहों में बतौर भेंट सुअरों के आदान-प्रदान की परंपरा रही है। अब यह उनके भोजन का हिस्सा नहीं रहा।

पिछले दिनों जब मध्यप्रदेश सरकार ने प्रदेश के आंगनवाड़ी केंद्रों में बच्चों को

अंडा परोसे जाने की मंशा जाहिर की तो इसका तीखा विरोध हुआ। नतीजा? सरकार को स्पष्टीकरण देना पड़ा कि अंडों का सेवन अनिवार्य नहीं होगा बल्कि यह बच्चों के माता-पिता की सहमति पर निर्भर करेगा। यह अहम है क्योंकि अंडा प्रोटीन का सबसे सस्ता और सुलभ स्रोत है। सरकारी नीतियों के हस्तक्षेप ने भी परधान समुदाय के पोषण को बाधित किया।

विभिन्न सरकारों ने जब खाद्य सुरक्षा की सार्वभौमिक योजनाएं तैयार कीं तो उनमें अलग-अलग समुदायों के लिए विशिष्ट व्यवस्था का अभाव था। स्थानीय भोजन और क्षेत्रीय पोषक तत्वों का स्थान गेहूं और चावल जैसे प्रचुर उत्पादन वाले अनाज ने ले लिया। उत्पादन की कमी के कारण ज्वार-बाजरा, कोदो-कुटकी, रागी, मक्का, जौ, जई आदि जैसे पारंपरिक अनाज इस खाद्य सुरक्षा से गायब हो गये। जबकि हकीकत में मोटे अनाज पोषक तत्वों के मामले में गेहूं और चावल से कई गुना बेहतर हैं। इनमें प्रोटीन के साथ-साथ विटामिन, आयरन और फॉस्फोरस समेत तमाम खनिज तत्व मिलते हैं। पोषण विज्ञानियों के मुताबिक रागी से बने एक कटोरे हलवे में कटोरा भर चावल की तुलना में 30 गुना तक

ज्यादा कैल्शियम होता है। यही बात बाजरे में आयरन की मात्रा के बारे में कही जाती है।

मिल पा रहा है जितना मिलना चाहिये। इसका नतीजा कुपोषण और बीमारियों के रूप में सामने आता है।

पलायन ने भी इस समुदाय के बच्चों में पोषण सुरक्षा को खतरे में डाला। गांवों में खेती के घाटे का सौदा होने और परिवार बढ़ने के साथ जोत छोटी होने का असर लोगों की आय पर पड़ा और अन्य तबकों की तरह परधान आदिवासी भी शहरों की ओर पलायन कर गये।

एक अनुमान के मुताबिक परधान समुदाय की वयस्क आबादी में से करीब 80 फीसदी रोजगार की तलाश में पलायन कर चुकी है। पलायन के कारण आंगनवाड़ी के रूप में बच्चों को मिल रहा व्यवस्थित पोषण तो छिनता ही है, साथ ही माता-पिता के विनिर्माण मजदूर के रूप में जीवन जीने के कारण शहरों में भी बच्चे खानाबदोश की तरह दिन बिताते हैं।

जाहिर है इससे उनका पोषण प्रभावित होता है। सरकार को चाहिए कि बाल पोषण को गंभीरता से लेते हुए समुदाय आधारित पोषण योजनाएं लागू करें।

मौजूदा योजनाओं की सार्वभौमिक प्रकृति और संसाधनों और बजट की तंगी के कारण समुदायों को उतना लाभ नहीं

- पूजा सिंह शुक्रवार पत्रिका की म.प्र. राज्य ब्यूरो प्रमुख हैं।

नौनिहालों की फिक्र किसे है ?

सरकार बच्चों को लेकर कितनी गंभीर है इसका अंदाजा बजट में बच्चों के लिए होने वाले आवंटन में निरंतर आ रही कमी से लगाया जा सकता है



संदीप कुमार

सरकार की प्राथमिकताओं और प्रतिबद्धताओं का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि वह बजट में कितनी तवज्जो देती है। बजट में बच्चों से जुड़े मदों में होने वाला आवंटन भी इससे अलग नहीं है। यह सही है कि बजट आवंटन राजनीतिक हित चिंताओं से परे नहीं है, लेकिन फिर भी बजट विश्लेषण इस बात का मोटा अनुमान प्रस्तुत करता है कि देश और समाज की दिशा क्या है?

भारत की बात करें तो सन् 2018 में देश की श्रम योग्य आबादी यानी 15 से 64 की उम्र के लोगों की आबादी उन लोगों से अधिक हो गई जो इस आबादी पर निर्भर हैं। सामान्यतया निर्भर आबादी में वे लोग आते हैं जिनकी उम्र 14 वर्ष से कम अथवा 65 वर्ष से अधिक हो। किसी देश की आबादी की उम्र में आ रहे इस बदलाव को अर्थशास्त्र की भाषा में जननांकीय लाभ कहा जाता है। शोधकर्ताओं का मानना है कि यह लाभ सन् 2055 तक हमारे पास रहेगा।

यही कारण है कि आने वाले वर्षों में यह बात बहुत मायने रखेगी कि हम अपनी आने वाली पीढ़ियों यानी बच्चों के साथ किस तरह का सुलूक करते हैं। यहां सुलूक से तात्पर्य बच्चों के स्वास्थ्य, शिक्षा, जीवनस्तर आदि सभी क्षेत्रों में बच्चों की स्थिति और सरकार तथा समाज द्वारा इसे लेकर उठाए जा रहे कदमों से है।



ऐसे में जब पिछले वर्ष निर्मला सीतारमण ने देश की पहली पूर्णकालिक महिला वित्त मंत्री के रूप में पद संभालने के बाद अपना बजट पेश किया तो सबको आशा थी कि एक स्त्री होने के नाते वे बजट में पहले की तुलना में बच्चों के लिए कुछ बेहतर योजनाएं पेश करेंगी। उन्होंने बच्चों से संबंधित मद में इजाफा तो किया लेकिन यह देखना होगा कि क्या उक्त इजाफा पर्याप्त है अथवा नहीं।

वर्ष 2018-19 के बजट में बच्चों के मद में किए जाने वाले आवंटन में इससे पिछले वर्ष की तुलना में महज 0.05 फीसदी की बढ़ोतरी की गई और यह पिछले वर्ष के 3.24 फीसदी से बढ़कर 3.29 फीसदी हुआ। पिछले वर्ष के 81,235.63 करोड़ रुपये के मुकाबले इस वर्ष का आवंटन 91,644.29 करोड़ रुपये रहा।

यह राशि वर्ष 2016 में राष्ट्रीय बाल कार्य योजना द्वारा अनुशंसित कुल राशि के 5 फीसदी से भी कम है। अगर इस बढ़ोतरी के ब्योरे में जाएं तो परिणाम बहुत आशान्वित करने वाले नहीं नजर आते। शिक्षा पर किए जाने वाले व्यय में मामूली इजाफा किया गया है और यह 68.2 फीसदी से बढ़कर 68.54 फीसदी हुआ है यह अभी भी सन 2015-16 के 79.02

फीसदी के स्तर से पूरे 10 फीसदी कम है।

बाल स्वास्थ्य भी एक अहम क्षेत्र है, लेकिन बच्चों के स्वास्थ्य संबंधी बजट आवंटन में 0.39 फीसदी की कमी देखने को मिली और यह गत वित्त वर्ष के 3.90 फीसदी से घटकर 3.51 फीसदी रह गया। इस वर्ष बजट में सरकार ने बच्चों के स्वास्थ्य के लिए 3218.33 करोड़ रुपये का आवंटन किया है। जबकि पिछले वर्ष यह राशि इससे अधिक 3328.71 करोड़ रुपये थी।

भारत ने 2030 तक नवजात मृत्यु दर को एक अंक में लाने का लक्ष्य तय किया है, लेकिन वर्ष 2016 तक के आंकड़े बहुत उत्साहित करने वाले नहीं हैं। वर्ष 2017 तक के आंकड़ों के अनुसार प्रति 1000 पैदा होने वाले बच्चों में से 33 का निधन हो जाता है।

जहां तक बच्चों के पोषण और स्वास्थ्य के क्षेत्र में आंगनवाड़ी केंद्रों की भूमिका अहम है। फरवरी माह में ही देश भर की आंगनवाड़ी कर्मियों ने अपना मानदेय बढ़ाने और पेंशन सुनिश्चित करने के लिए संसद के समक्ष आंदोलन किया। केंद्र सरकार ने सितंबर 2018 में वादा किया था आंगनवाड़ी कर्मियों के बजटीय आवंटन में 4,259 करोड़ रुपये की

वार्षिक बढ़ोतरी की जाएगी। परंतु सरकार ने वर्ष 2019-20 के लिए केवल 19,834.37 करोड़ रुपये का बजट आंगनवाड़ी के लिए आवंटित किया जो पिछले वर्ष के 17,870.19 करोड़ रुपये के संशोधित आवंटन से केवल 1,944.18 करोड़ रुपये अधिक है।

राष्ट्रीय बाल श्रम परियोजना के लिए आवंटित की जाने वाली राशि में कमी की गई है। पिछले वित्त वर्ष के 120 करोड़ रुपये के स्थान पर इस वित्त वर्ष के लिए सरकार ने केवल 100 करोड़ रुपये का प्रावधान किया है।

यह राशि ऊंट के मुंह में जीरे के सदृश्य ही है। बेंटी बचाओ, बेंटी पढ़ाओ योजना के लिए भी 280 करोड़ रुपये की राशि ही जारी की गई जो एक वर्ष पहले के बराबर ही है। दूसरी ओर लड़कियों को सेकंडरी शिक्षा के लिए प्रोत्साहित करने के लिए चलाई जाने वाली योजना के आवंटन में सरकार ने 60 प्रतिशत की कटौती की है।

बच्चों को लेकर सरकार की गंभीरता में यह कमी अचानक नहीं आई है। बजट में बच्चों के लिए आवंटन में कमी का एक लंबा सिलसिला नजर आता है। यदि हम वर्ष 2012-13 को आधार वर्ष मान लें तो उस वर्ष कुल बजट का 5.04 फीसदी

हिस्सा बच्चों के लिए आवंटित था। 2013-14 यह घटकर 4.65 प्रतिशत, 2014-15 में 4.20 प्रतिशत और 2015-16 में 3.23 प्रतिशत रहा।

बच्चे देश का भविष्य और धरोहर होते हैं लेकिन एक के बाद एक देश की सरकारें अपने बजट में बच्चों के साथ जिस प्रकार का व्यवहार कर रही हैं, वह यह बताता है कि बच्चे सरकार की योजना में दूर-दूर तक कहीं नहीं हैं। यदि उनके हित में थोड़ा बहुत कुछ हो भी रहा है तो वह शायद बाल अधिकारों के लिए काम करने वाले समूहों के दबाव में तथा अन्य फिजूल व्यय को उचित ठहराने की कवायद भर है।

बच्चों को लेकर सरकार की गंभीरता का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि उनके लिए अलग विभाग तक नहीं है। बच्चों से संबंधित तमाम व्यय महिला एवं बाल विकास विभाग के अधीन किये जाते हैं। सरकार के दो दर्जन से अधिक विभागों की करीब 90 योजनायें बच्चों से संबंधित हैं। परंतु देश के कुल 27,86,349 करोड़ रुपये के बजट में बच्चों के लिए बमुश्किल 91,500 करोड़ रुपये की रकम नाकाफी है।

- संदीप कुमार बिजनेस स्टैंडर्ड के म.प्र. राज्य प्रमुख हैं।

समग्र बाल नीति का वचन कब पूरा करेगी सरकार

एक साल पहले कांग्रेस पार्टी ने बड़े जोर-शोर से अपना 'वचन पत्र' जारी किया था। इससे पहले राजनीतिक दल अमूमन 'घोषणा पत्र' जारी करते रहे हैं



राकेश कुमार मालवीय

तीन चुनावों से सत्ता से दूर कांग्रेस पार्टी ने घोषणा पत्र को वचन पत्र इसलिए कहा कि लोग उस पर ज्यादा भरोसा करें। लोगों ने विश्वास किया भी। कमलनाथ के नेतृत्व में सरकार बन भी गई। इस सरकार को एक साल दिसंबर में पूरा हो जाएगा। इस वचन पत्र का एक महत्वपूर्ण बिंदु था 'मध्यप्रदेश की समग्र बाल नीति बनाई जाएगी।' बहरहाल एक साल होने को आए हैं और इस समग्र बाल नीति का कोई अता-पता नहीं है ! बाल नीति ही नहीं राज्य बाल अधिकार आयोग के अध्यक्ष का पद भी लंबे समय से खाली पड़ा है। सरकार इस पर किसी योग्य व्यक्ति को क्यों नहीं बैठाना चाहती ? कमी योग्यता की है या इसे भरने की मंशा नहीं है, समझ से परे है।

जब पूरी दुनिया बाल अधिकार दिवस मना रही होगी, तब इस बात का कोई जवाब हमारे पास नहीं होगा कि प्रदेश के बच्चों के लिए सरकार ने इस एक साल में समग्र रूप से क्या बुनियादी काम किया है ? पोषण आहार में अंडा और बाल मजदूरी से संबंधित एक-दो उदाहरण को छोड़ दिया जाए तो बताने के लिए बहुत कुछ नहीं है। होना तो यह चाहिए था कि सबसे पहले वचन के मुताबिक एक समग्र बाल नीति की कवायद होती पर संवाद होता और इसमें बच्चों से संबंधित चारों अधिकारों पर समग्र रूप स्थितियां सामने रखी जातीं, उनका विश्लेषण होता और



ठोस रूप से कुछ सामने आता, जाने क्यों ऐसा नहीं हो सका। सवाल यह है कि समग्र बाल नीति की जरूरत क्यों है? जब बच्चों के लिए तमाम योजनाएं चल ही रही हैं, एक पूरा विभाग महिलाओं और बच्चों के लिए समर्पित है, एक मंत्री स्वतंत्र रूप से इसे देखती ही रही हैं, सैकड़ों संस्थाएं संगठन बाल अधिकारों पर काम कर ही रहे हैं तो फिर और करने की जरूरत क्या है ?

जवाब यह है कि इन तमाम कोशिशों के बाद प्रदेश में बाल अधिकारों के सारे मानक यह बताते हैं कि अंतरराष्ट्रीय बाल अधिकार समझौता लागू होने के तीस सालों बाद तक जो कुछ भी हुआ है वह आधा-अधूरा है। प्रदेश की कुल जनसंख्या में लगभग 42 प्रतिशत लोगों की उम्र 18 वर्ष से कम है — यानी उनके जन्म के समय से लेकर उनके पोषण, शिक्षा, स्वास्थ्य, सुरक्षा और सम्मानजनक विकास की पूरी प्रक्रिया समाज और राज्य को निभानी होगी। वर्तमान स्थिति यह है कि मध्य प्रदेश में 5 साल से कम उम्र के लगभग 43 प्रतिशत बच्चे स्वास्थ्य मानकों के मुताबिक कम वजन के हैं, एक तिहाई बच्चों को पूरे टीके नहीं लग पाते हैं, प्रति हजार जीवित बच्चों में से जो बच्चे जन्म लेते हैं उनमें से 47 बच्चे एक

साल के पहले ही दम तोड़ देते हैं यानी ये बच्चे अपना पहला जन्मदिन भी नहीं मना पाते हैं। पूरे राज्य में बच्चों के लिए केवल 18 बाल संप्रेषण गृह हैं, 3 विशेष घर हैं, 47 बालगृह, एवं 19 खुले आश्रय गृह हैं, जिनमें से 5 बाल गृह सरकारी हैं जो सरकार द्वारा चलाए जा रहे हैं। 42 बालगृह हैं जो गैर सरकारी संस्थाओं द्वारा सरकार से अनुदान लेकर चलाए जा रहे हैं। अनुदान नहीं मिलने के चलते 11 होम्स बंद हो गए हैं, अब मध्यप्रदेश में 36 बालगृह ही बचे हैं। इसी तरह 11 खुले आश्रयगृह भी खोले गए थे जिनमें से दो सालों में 6 आश्रयगृह बंद हो गए हैं, किशोर न्याय अधिनियम हर जिले में एक बाल गृह एक संप्रेषण गृह और एक आश्रय गृह का प्रावधान करता है परंतु उसके बाद अभी 18 सालों में भी यह स्थिति है कि हर जिले में बालगृह नहीं है। भोपाल में 3 सालों में 2 बालगृह अनुदान ना मिलने के कारण बंद हो गए और जो 2 चल रहे हैं वहां पर बच्चों की संख्या क्षमता से अधिक है। यही हाल बालिकागृह का है।

जेजे अधिनियम के तहत लगभग 60 प्रतिशत बाल कल्याण समितियां अब भी कार्यशील नहीं हैं। 52 जिलों में से विशेष किशोर पुलिस इकाई केवल 8 जिलों में

काम कर रही है। मध्यप्रदेश के सभी स्थानों पर डीसीपीसी, बीसीपीसी और वीसीपीसी जैसी आईसीपीएस संरचनाएं अभी भी गठित नहीं हुई हैं।

2017 में मध्यप्रदेश से 12417 बच्चे गायब थे, जिनमें से 5375 लड़के थे और 7042 लड़कियां थीं। लड़कों की तुलना में लड़कियां अधिक गायब हैं, लेकिन इस (2012) में गायब लड़कियों की संख्या लड़कों की तुलना में अधिक है। 2013 से 2017 के पांच साल के आंकड़ों पर नजर डालें तो देखेंगे की कुल 13086 लड़के और 28941 लड़कियां गुम हुई हैं यानि लड़कों की तुलना में लड़कियां अधिक गुम हुई हैं। गुमशुदा बच्चों के मिलने के आंकड़ों पर नजर डाले तो 11950 लड़के वापस मिले और 24122 लड़कियां वापस मिली। मतलब 1101 लड़के और 4812 लड़कियां अभी भी गुम हैं।

बालश्रम निषेध व नियमन कानून 1986 में कुछ खास खतरनाक कार्यों को छोड़कर बाकी सभी कार्यों में बालश्रम को नियोजित किया गया है। देश का कानून बालश्रम को पूरी तरह से रोकने और शिक्षा व सुरक्षित, बेहतर, भविष्य के लिए बच्चों के अधिकारों का संरक्षण कर पाने में नाकाम रहा है। जनगणना 2011 के मुताबिक जनगणना के समय मध्यप्रदेश

में 891811 लोग (बच्चे) ऐसे थे जिनकी उम्र विवाह की कानूनी उम्र से कम थी, परन्तु वे विवाहित थे। इसी तरह 29441 बच्चे ऐसे थे, जो विधवा/विधुर, अलग हुए/तलाकशुदा थे। इनमें से 12382 लड़कियां और 17059 लड़के थे।

यह कुछ आंकड़े भर हैं जो केवल यह बताने के लिए हैं कि प्रदेश में समग्र बाल नीति की दरकार क्यों है? काम तो बहुत होते हैं, लेकिन जब सरकार ने यह वचन दे रखा हो कि वह बाल अधिकारों के लिए समग्र रूप से योजना और नीति बनाकर कुछ बुनियादी काम करेगी तब सरकार को उसका वचन याद दिलाना जरूरी हो जाता है ताकि तमाम विभाग, तमाम योजनाएं टुकड़ों-टुकड़ों में काम न करे। मिलकर काम करे, व्यवस्थित काम करे, एक छाते के नीचे काम करे, एक नेतृत्व में काम करे, बाल अधिकारों को पूरा करने की मंशा से काम करे, ताकि अगले चुनाव में जब यह पूछा जाए कि सरकार ने बच्चों के लिए क्या किया तब सरकार को आजू-बाजू न देखना पड़े वह आंख में आंख डालकर यह बता सके कि प्रदेश में बच्चों के लिए बुनियादी काम हुआ है।

- राकेश मालवीय विकास संवाद से संबद्ध हैं।

श्यापुर में बच्चों को पोषण केंद्रों में ले जाने से कतरा रहे हैं परिजन?

‘भारत का इथोपिया’ कहे जाने वाले श्यापुर में एक ओर मासूम कुपोषण से दम तोड़ रहे हैं तो दूसरी ओर पोषण पुनर्वास केंद्र खाली पड़े हैं



दीपक गोस्वामी

श्यापुर जिले के विजयपुर तहसील अंतर्गत आने वाले ठाकुरपुरा गांव की चंदा डेढ़ वर्ष की है, लेकिन उसका वजन पांच किलो भी नहीं है। चंदा को इलाज और उचित पोषण के लिए पोषण पुनर्वास केंद्र (एनआरसी) ले जाने के लिए चिह्नित किया गया है, लेकिन परिजन उसे तैयार नहीं हो रहे हैं।

कुछ ऐसी ही कहानी नयागांव टीनापुरा के लोकेश की है। वह भी डेढ़ वर्ष का है। उसका कद और भार दोनों ही तय मानकों से कम हैं। जब हम लोकेश से मिले, तब भी उसे बुखार भी था। कुपोषण के शिकार लोकेश को भी एनआरसी के लिए रेफर किया गया है, लेकिन उसे भी एनआरसी लेकर नहीं जा रहे हैं।

यह उदाहरण जिले के लगभग हर आदिवासी बहुल गांव में देखने को मिलते हैं। कराहल में तो प्रशासन जब कुपोषित बच्चे को एनआरसी ले जाने के लिए पहुंचा तो मां ने आत्महत्या तक की धमकी दे डाली।

महिला एवं बाल विकास विभाग के ही आंकड़े बताते हैं कि हर दिन राज्य में कुपोषण से पांच वर्ष तक के 92 बच्चे दम तोड़ते हैं। वर्ष 2016 के राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण के मुताबिक श्यापुर में पांच साल की उम्र तक के लगभग 55 प्रतिशत बच्चे कम वजन के हैं।



सहरिया आदिवासी समुदाय कुपोषण से सबसे अधिक प्रभावित है। 2016 में जिले में बच्चों की लगातार हो रही मौतों को देखते हुए भाजपा सरकार ने तो कुपोषण पर 'श्वेत- पत्र' लाने तक की घोषणा कर दी थी और बिना श्वेत-पत्र लाये ही सरकार बदल गई।

पूरे प्रदेश में यह एकमात्र जिला है जिसमें कुपोषित बच्चों की पहचान, उन्हें उचित इलाज मुहैया कराने में मदद एनआरसी तक पहुंचाने और उनके स्वास्थ्य पर नजर बनाए रखने के लिए डब्ल्यूसीडी द्वारा ग्रोथ मॉनिटर को तैनात किया गया है, पर मौतें न रुकीं।

जुलाई माह में विजयपुर में लगातार कई मौतों ने जिले को सुर्खियों में ला दिया था। नतीजतन कुपोषितों को पहचानकर उन्हें उचित इलाज और पोषण उपलब्ध कराने की संपूर्ण व्यवस्था कटघरे में आ गई थी। वर्तमान परिस्थितियां भी कोई जुदा नहीं हैं। 20 बिस्तरों वाले विजयपुर एनआरसी में केवल दो बच्चे भर्ती हैं। जबकि हमें अनेक कुपोषित बच्चे जिंदगी और मौत के बीच झूलते मिले।

आंगनवाड़ी कार्यकर्ता और ग्रोथ मॉनिटर का कहना है कि समझाने के बाद भी ग्रामीण अपने बच्चों को एनआरसी ले जाना नहीं चाहते हैं। सवाल उठता है कि

क्यों मां-बाप बच्चों को इलाज से दूर रखे हुए हैं, क्या उनके पास इसकी कोई पुख्ता वजह है या फिर ग्रोथ मॉनिटर, आंगनवाड़ी कार्यकर्ता और प्रशासन ही इन बातों को हवा दे रहे हैं? पिपरवास गांव में एक डेढ़ वर्षीय ऐसी बच्ची भी मिली जिसके हाथ-पैरों में मांस के नाम पर केवल खाल दिखाई दे रही थी। उसके पैर सीधे नहीं होते थे और वह बैठ तक नहीं सकती थी। उस बच्ची की मां उसे जन्म देने के कुछ दिनों बाद ही चल बसी थी। बच्ची का अब तक नामकरण तक नहीं हुआ है।

परिजन उसे एक झोलाछाप डॉक्टर से ही इलाज करा रहे हैं। 65 वर्षीया दादी फूला बाई ने बताया 'इसकी मां इसे जन्म देने के कुछ ही माह बाद चल बसी थी और अपने पीछे चार लड़कियां छोड़ गई थी, जिनमें से एक ये है। बाप हमेशा नशे में धुत रहता है और दादा खेतों में मजदूरी करने जाता है। इन बच्चियों के साथ-साथ परिवार का ख्याल मैं ही रखती हूं। मैं एनआरसी चली गई तो बाकी तीन बच्चियों की देखभाल कौन करेगा ?'

सामाजिक कार्यकर्ता रामदीन आदिवासी बताते हैं, 'कुपोषितों को एनआरसी न ले जाने का सबसे बड़ा कारण यही है कि

सहरिया समुदाय परिवार नियोजन को लेकर जागरूक नहीं है। औसतन यहां हर आदिवासी के 3-4 (कई मामलों में तो 6-8) बच्चे होते ही हैं। अब मां एक बच्चे को एनआरसी लेकर चली जाए तो बाकी बच्चों की देखभाल और खान-पान का संकट खड़ा हो जाता है।

किशनपुरा गांव की रीना आठ माह की गर्भवती हैं। उनके दो बच्चे हैं, करीब तीन साल का एक बेटा और डेढ़ साल की बेटी पूनम। पूनम कुपोषित है और उसे एनआरसी के लिए चिह्नित किया गया है, लेकिन रीना उसे वहां नहीं ले जा रही हैं। अगस्त माह में वह उसे एनआरसी लेकर गई थीं, लेकिन 14 दिन को पूरा करने से पहले ही हफ्ते भर के अंदर लौट आई। रीना कहती हैं, 'मैं वहां रहूंगी तो मेरे बेटे का ख्याल कौन रखेगा?

एनआरसी में जाकर एक ही जगह बंद से हो जाने पर घुटन महसूस करते हैं। वहां बस बच्चे की देख-रेख और पलंग पर बैठे रहो। वे चलने-फिरने वाले लोग हैं, पर वहां जाम से हो जाते हैं। चंदा और लोकेश के मामले में यही हुआ था। चंदा के परिजन उसे अभी एनआरसी नहीं ले जा रहे हैं, लेकिन जुलाई माह में उसकी मां मनोज उसे एनआरसी लेकर गई थी। बच्ची की हालात इतनी गंभीर थी कि

उसे खून भी चढ़ाया गया था। इसके बावजूद भी मनोज केंद्र में बिना बताए चंदा को लेकर गांव भाग आई थी।

- दीपक गोस्वामी विकास संवाद के फैलो हैं।

स्मार्ट फोन, सोशल मीडिया जनित यौन अपराध

फेक सोशल मीडिया एकाउंट जानबूझकर नाबालिगों को अपराध
के दल-दल में फंसाने के लिए बनाए जाते हैं



डॉ. दीपक राय

तेजी से आधुनिक होते जीवन में तमाम व्यवस्थाएं बदल रही हैं। गांव, मजरे-टोलों तक भले पीने का स्वच्छ पानी न हो, गुणवत्तायुक्त शिक्षा न हो, लेकिन हर जगह इंटरनेट है, स्मार्टफोन है, सोशल मीडिया नेटवर्क है। आज अधिकांश हाथों में स्मार्टफोन भले पहुंच गया, लेकिन इससे स्मार्ट होने की गारंटी नहीं है। डिजिटल साक्षरता के अभाव में कई बार यह स्मार्टफोन एक हथियार बन जाता है, जिससे खुद का और समाज का बुरा हो जाता है।

गूगल का नियम है कि 13 वर्ष से कम उम्र के बच्चे ऑनलाइन एप का प्रयोग नहीं कर सकते। फेसबुक में 18 वर्ष से कम उम्र के बच्चों के खाते खोलने पर प्रतिबंध है, लेकिन ऐसा नहीं हो रहा। नाबालिग भी धड़ल्ले से सोशल मीडिया उपयोग कर रहे हैं। फेक सोशल मीडिया एकाउंट, (जो कि जानबूझकर नाबालिगों को अपराध के दल-दल में फंसाने के लिए बनाए जाते हैं) का शिकार हो रहे हैं। सोशल मीडिया जनित यौन अपराधों में वृद्धि देखी जा रही है।



मग्न में 2001 में नाबालिगों से दुष्कर्म के 390 मामले सामने आए थे। वर्ष 2016 तक यह संख्या बढ़कर 2,467 हो गई थी। 15 वर्ष में 532 प्रतिशत बढ़ोतरी हुई है। एनसीआरबी के मुताबिक साल 2012 में जहां बच्चियों के साथ

बलात्कार के 8,541 मामले सामने आए हैं। 2016 में यह 19,765 मामले हुए, यानि दोगुनी वृद्धि।

2014 से 2016 तक 3 साल में कुल 1 लाख 4 हजार 976 नाबालिगों के साथ दुष्कर्म को अंजाम दिया गया है। जबकि सिर्फ 11, 266 लोगों को सजा हुई। 2014 में 34449 नाबालिगों के साथ मामले दर्ज किये गए। 41732 लोगों को गिरफ्तार किया गया। 2686 लोगों को नाबालिगों के साथ रेप या गैंगरेप केसों में दोषी पाया गया। इसी तरह 2015 में 34505 नाबालिगों के साथ रेप या गैंगरेप केसेज रिपोर्ट किए गए।

बीबीसी की एक रिपोर्ट के मुताबिक 2015 में भारत में बच्चों के खिलाफ अपराध के 94,172 मामले दर्ज किए गए। इनमें अपहरण के 41,893 मामले, यौन शोषण के 14,913 मामले, रेप के 10,854 और हत्या के 1,758 मामले थे। वर्ष 2007 महिला और बाल विकास मंत्रालय ने बच्चों के शोषण पर एक अध्ययन कराया था। उसके मुताबिक भारत में 53.22 प्रतिशत बच्चों के साथ किसी न किसी तरह का यौन शोषण हुआ है। इन बच्चों में 53 प्रतिशत लड़के थे। वर्ष 2014 से 2016 के बीच भारत में 18,502 लड़कों से बलात्कार मामले संज्ञान में आए और दर्ज

हुए।

आमतौर पर यौन अपराधों में महिला को ही शामिल किया जाता है, लेकिन लड़कों का इतना बड़ा प्रतिशत एक नई विंता की लकीर उकेरता है। भारतीय दंड संहिता की धारा 354 में लज्जा भंग करने यानी लैंगिक रूप में अपमानित किए जाने की व्याख्या है, इसमें महिलाओं के संदर्भ में ही परिभाषा है। लड़कों या पुरुषों का इसमें कोई स्पष्ट संदर्भ ही नहीं है। वहीं, धारा 375 में 'बलात्कार के अपराध की व्याख्या है और इसमें जो छह बिंदु शामिल हैं, वे सभी केवल महिलाओं से संबंधित हैं। दोनों ही धाराओं में पुरुष या लड़का आरोपी या अपराधी के रूप में शामिल है।

नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ मेंटल हेल्थ एंड न्यूरोसाइंसेस के डॉ. मनोज शर्मा बताते हैं कि सोशल मीडिया और ऑनलाइन एप से बच्चे तनाव में आ रहे हैं। यह खुलासा हुआ है कि 13 से 17 वर्ष के बच्चों के 17 प्रतिशत बच्चों के पास अश्लील सामग्री पहुंच रही है।

सरकार ने 'सूचना तकनीक अधिनियम 2000' बनाया है। यह कानून सोशल मीडिया व अन्य अश्लील वेबसाइटों पर कानूनी जिम्मेदारी डालता है कि वो अपनी सही सोच का इस्तेमाल करें।

पोर्नोग्राफिक कंटेंट जैसे अपराध आईटी एक्ट में आते हैं। आईटी एक्ट की धारा 67 (र) के तहत ऐसे वीडियो बनाना और फैलाना या फैलाने में सहायता करना अपराध है। किसी के फोन में इस तरह का वीडियो रखा भी है तो वह अपराध है। गिरफ्तारी होने पर पांच साल की कैद और 10 लाख रुपए जुर्माना है।

हाल ही में यौन अपराधों से बच्चों की सुरक्षा के लिए बाल यौन अपराध संरक्षण कानून (संशोधन) यानि पाक्सो को मंजूरी मिली है। इस अधिनियम के तहत 12 साल से कम उम्र की बच्चियों से रेप के दोषियों को मौत की सजा दिए जाने का प्रावधान है। इसमें स्मार्टफोन, इंटरनेट, सोशल मीडिया के अपराधों को इसमें शामिल किया है। इसमें चाइल्ड पोर्नोग्राफी (बाल अश्लील साहित्य) की परिभाषा में बदलाव किया गया है। तस्वीर, एनिमेटेड वीडियो और कार्टून्स को भी चाइल्ड पोर्नोग्राफी के दायरे में रखा गया है। चाइल्ड पोर्नोग्राफी को प्रचारित, प्रसारित करने अथवा उसे बेचने के जुर्म में सजा का प्रावधान बढ़ाकर पांच साल कर दिया गया है।

वर्ष 2017 में मप्र की भाजपा सरकार ऐसा कानून बचा चुकी है, जिसमें नाबालिगों से बलात्कार पर फांसी देने का प्रावधान

है। मप्र में आईपीसी की धारा 376 (बलात्कार) और 376 डी (सामूहिक बलात्कार) में संशोधन कर दोनों धाराओं में दोषी को फांसी की सजा देने का प्रावधान शामिल है। इसके मुख्य प्रावधानों में 12 वर्ष से कम उम्र की नाबालिग से बलात्कार पर फांसी और किसी भी उम्र की महिला से गैंगरेप पर भी फांसी देने की बात कही गई है। लेकिन सवाल अपनी जगह बरकरार है। 18 जुलाई 2018 को राज्यमंत्री एसएस अहलूवालिया ने कहा था कि सोशल मीडिया साइट पर विषयवस्तु का नियमन नहीं किया जाएगा और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और नागरिकों की निजता को बरकरार रखा जाएगा। ऐसे में कैसे समस्या का हल होगा? हालांकि पूर्व में मप्र सरकार ने 21 पोर्न वेबसाइट को प्रतिबंधित भी किया था। भारत सरकार भी 827 अश्लील वीडियो वेबसाइट को प्रतिबंधित कर चुकी है, लेकिन वह वीडियो अब भी भारत में देखे जा रहे हैं। अपराधियों को सिर्फ फांसी की सजा देने से समस्या का हल नहीं होगा। फांसी की सजा के प्रावधान के बाद इसके नकारात्मक पहलू भी सामने आ रहे हैं।

- डॉ. दीपक राय एक्सप्रेस न्यूज सर्विस भोपाल से संबद्ध हैं।

हीरा खदानों की मजदूर माएं नहीं दे पा रही हैं बच्चों को बेहतर पोषण

पन्ना जिला के धनौजा गांव में हीरा खदानों में काम करने वाली महिलाओं की स्वास्थ्य स्थिति खराब है जिससे बच्चे भी प्रभावित होते हैं



मनीष चंद्र मिश्र

तीन साल की नन्हीं कृति मध्यप्रदेश के पन्ना जिले में बृजपुर पंचायत स्थित धनौजा गांव में चहलकदमी कर रही है। उसकी मुट्ठी में नमक लगाकर लपेटी गई एक मोटी रोटी है और उसकी दूसरी मुट्ठी में एक प्याज है। यह उसके दोपहर का खाना है। बार-बार पूछने पर वह बताती है कि मां अभी काम से लौटकर आई है और उसके बाद ये रोटियां बनी हैं। कृति की हमउम्र के ही काले लाल, शिवानी, पंकज, सोहन और शंकर को भी सीधे दोपहर में ही गरम खाना मिलता है और अक्सर उनके खाने में नमक रोटी ही रहती है। गांव के राम शरण ने बताया कि वहां की आंगनवाड़ी पहले नहीं खुलती थी, लेकिन शिकायत के बाद उसमें आंगनवाड़ी कार्यकर्ता आती हैं, लेकिन मजदूरी करने जाने की मजबूरी में कई लोग आंगनवाड़ी केंद्र नहीं पहुंचते।

तकरीबन 100 परिवारों का गांव धनौजा में हर परिवार से कोई न कोई हीरा खदान में मजदूरी करता है। इन खदानों में मजदूरी करने वाली महिलाओं को कड़ी शारीरिक मेहनत करनी पड़ती है और साथ में इनके बच्चे भी पोषण और मां की ममता से घंटों दूर रहते हैं।



60 वर्ष की गांव की बुजुर्ग सुनिया बाई कहती है कि गांव के आसपास पहले हीरा मिला था इसलिए पन्ना जिले की अधिकतर खदान इस गांव के आसपास है और पूरा गांव

वहीं काम करता है। सुनिया बताती है कि खदान में काम कर करके उनका शरीर खत्म हो गया है। धूल-मिट्टी में जवानी से ही वह रोज सुबह खदान पर जाती आई है। पहले एक दिन के 11 रुपये मिलते थे, और अब 120 मिलने लगे हैं। हर मजदूरों को रोज सुबह 4 बजे जागकर घर से निकलना होता है। वापसी का समय 10 बजे का है, लेकिन काम करते-करते 12 बज ही जाते हैं। उसके बाद पानी भरने और खाना बनाने में काफी समय लग जाता है। वो खुद तो 2 बजे तक भूखी रह लेती है, लेकिन घर के बच्चे इस दौरान काफी परेशान होते हैं।

सुनिया बाई के बगल में बैठी गोविंदा बाई उसकी बात को आगे बढ़ाते हुए कहती है कि घर के बड़े बच्चे रात का बचा खाना आपस में बांटकर खा लेते हैं। छोटे बच्चों के लिए पैकेट में मिलने वाला चिप्स भी ले आते हैं।

गोविंदा बाई बताती है कि उनके बच्चों का पेट खाली नहीं रहता, लेकिन बावजूद इसके वो कमजोर होते जा रहे हैं। हालांकि पोषण विशेषज्ञ और विश्लेषक फरहत सिद्दीकी के मुताबिक खाने में हरी सब्जियां, दाल और प्रचुर मात्रा में दूसरे जरूरी पोषक तत्व न लेने से कुपोषण होता है। हरी सब्जियों में

मौजूद विटामिन रोग प्रतिरोधक क्षमता विकसित करते हैं और जब ये नहीं मिलता तो शरीर का प्रोटीन इसकी भरपाई करता है। इस तरह बच्चों के पोषण पर असर होता है। गांव की ही 23 साल की मिन्ता बाई के दो बच्चे कोमल (1) और कपिल (3) बारी-बारी से पोषण पुनर्वास केंद्र में भर्ती हो चुके हैं। आंगनवाड़ी के आंकड़ों के मुताबिक कम से कम 10 बच्चों को इस साल पोषण की कमी की वजह से पोषण पुनर्वास केंद्र में दाखिल करवाया गया है। इस केंद्र में अति कुपोषित बच्चों को विशेष निगरानी में रखा जाता है।

पान बाई ने बताया कि गांव के मर्द मजदूरी करने आसपास के शहर जाते हैं और हीरा खदान में जाने की जिम्मेदारी अक्सर औरतों के पास ही है। जागरूकता के अभाव में यहां लोगों के 3-4 बच्चे हैं। पान बाई बताती हैं कि राकेश गौर को 17 साल से लेकर 4 महीने तक के 10 बच्चे हैं। कल्लन गौर के भी 7 बच्चे हैं। कल्लन को टीबी हुई है और उसके एक बच्चे को भी यही बीमारी है। उसकी पत्नी को खून की कमी भी है। इस हालत में भी वो हीरा खदान जाते हैं, क्योंकि रोजगार का और कोई साधन नहीं है।

● मनीष चंद्र मिश्र स्वतंत्र पत्रकार हैं।

अब भी बच्चों की स्थिति चिंताजनक

इस करार को दुनिया के तकरीबन हर देश से मंजूरी मिल जाने के बावजूद वैश्विक स्तर पर अभी भी बच्चों की स्थिति चिंताजनक बनी हुई है



जावेद अनीस

यह अन्तर्राष्ट्रीय बाल अधिकार समझौते का तीसवां वर्ष है। मानवाधिकारों पर अब तक होने वाली संधियों में सबसे ज्यादा देशों से स्वीकृति इसी समझौते को प्राप्त हुई है। यह समझौता है सभी बच्चों के नागरिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक अधिकारों को मान्यता देता है। इस पर 193 राष्ट्रों की सरकारों ने हस्ताक्षर करते हुए बच्चों को जाति, धर्म, रंग, लिंग, भाषा, संपत्ति, योग्यता आदि के आधार पर बिना किसी भेदभाव के संरक्षण देने का वचन दिया है। केवल दो राष्ट्रों अमेरिका और सोमालिया ने अब तक इस पर हस्ताक्षर नहीं किए हैं। समझौते पर भारत ने 1992 में हस्ताक्षर कर अपनी प्रतिबद्धता व्यक्त की है।

समझौते के 30 साल का सफर काफी उतार-चढ़ाव भरा रहा है। आज इस संधि का असर सभी मुल्कों के कानूनों और नीतियों पर साफ-तौर पर देखा जा सकता है। इससे बच्चों की स्थिति में व्यापक सुधार देखने को मिला है। वैश्विक स्तर पर पाँच वर्ष से कम आयु के बच्चों की में लगभग 60 प्रतिशत की गिरावट आई है।

इन उपलब्धियों के बावजूद वैश्विक स्तर पर अभी भी बच्चों की स्थिति चिंताजनक बनी हुई है। आज भी बच्चों की आवाज को अनसुना कर दिया जाता है। यूनिसेफ की रिपोर्ट में चेताया गया है कि वर्ष 2017 से 2030 के बीच दुनिया के पैमाने पर पाँच साल से कम उम्र के 6 करोड़ से ज्यादा बच्चों की मौत ऐसी वजहों से हो सकती हैं जिन्हें



टाला जा सकता है। आज मानव तस्करी के पीड़ितों में करीब एक तिहाई बच्चे हैं, इधर डिजिटल तकनीक आने से बाल तस्करी की समस्या और पेचीदा हो गयी है। विस्थापन को मजबूर बच्चों की संख्या में लगातार बढ़ोत्तरी हो रही है। युद्ध और सशस्त्र संघर्षों से भी सबसे ज्यादा प्रभावित बच्चे ही हैं।

संयुक्त राष्ट्र के आंकड़े बताते हैं कि साल 2018 में सशस्त्र संघर्षों के दौरान दुनिया भर में करीब 12 हजार बच्चे या तो मारे गये हैं या फिर अपंगता के शिकार हुये।

आज दुनियाभर में बच्चों को खतरों का सामना भी करना पड़ रहा है। अब उन्हें स्वास्थ्य, पोषण, शिक्षा और सुरक्षा जैसी परम्परागत चुनौतियों के साथ जलवायु परिवर्तन, साइबर अपराध जैसी बिलकुल नई समस्याओं से जूझना पड़ रहा है। हमारे देश में समाज और सरकारों का बच्चों के प्रति नजरिया उदासीन बना हुआ है।

वर्ष 2011 की जनगणना के अनुसार भारत में 0 से 18 आयु समूह के 472 मिलियन बच्चे हैं, हमारे देश में सरकार की तरफ से तो फिर भी बच्चों के पक्ष में सकारात्मक पहल की गई है, लेकिन एक समाज के रूप में हम अभी भी बच्चों और उनके अधिकारों को लेकर गैर—

जिम्मेदार और असंवेदनशील बने हुए हैं। भारत ने कुछ क्षेत्रों में अभूतपूर्व तरक्की की है, लेकिन कई दाग भी हैं, हमारा मुल्क अभी भी भ्रूण हत्या, बाल व्यापार, यौन दुर्व्यवहार, लिंगानुपात, बाल विवाह, बाल श्रम, स्वास्थ्य, शिक्षा, कुपोषण, मलेरिया, खसरा और निमोनिया जैसी बीमारियों से मरने वाले बच्चों के हिसाब से दुनिया के कुछ सबसे बदतर देशों में शामिल है।

शिक्षा पर खर्चा बढ़ाने के बजाये कम हो रहा है। “संयुक्त राष्ट्र संघ की रिपोर्ट” के अनुसार जहां 1994 में भारत के कुल जीडीपी का 4.34 प्रतिशत शिक्षा पर खर्च किया जाता था, वहीं 2010 में घट कर यह 3.35 प्रतिशत रह गया है।

ग्लोबल न्यूट्रिशन रिपोर्ट 2018 के अनुसार विश्व के कुल अविकसित बच्चों का एक तिहाई हिस्सा हमारे देश भारत में है, ग्लोबल हंगर इंडेक्स 2018 के हिसाब से भारत 119 देशों की सूची में 103 वें नंबर पर है। पिछले एक दशक (2007 से 2017) के दौरान बच्चों के खिलाफ अपराध 1.8 से बढ़कर 28.9 फीसदी तक जा पहुंचा है। 0-6 वर्ष आयु समूह के बाल लिंगानुपात में 1961 से लगातार गिरावट जारी है।

● जावेद अनीस स्वतंत्र पत्रकार हैं।

खेलने की उम्र में दूसरों के हाथ का खिलौना बन रहा बचपन

मजदूरी में फंसे बचपन की सुध लेने वाला कोई नहीं, पलायन से बालश्रम तक होते हुए अब बाल तस्करी तक पहुंच चुका है मामला



रूपाली ठाकुर

बचपन, यह शब्द सुनते ही मन में एक छवि बनती है जिंदगी के हसीन पलों की, न कोई चिंता न जिम्मेदारी, खेलना-कूदना, मौज करना और अपनी मस्ती में खोए रहना, लेकिन हर बचपन ऐसा नहीं होता। जी हां हम बात कर रहे हैं बाल मजदूरी की, कलम थामने वाले हाथों को जब औजार थमा दिए जाते हैं। जिन्हें खिलौनों से खेलना है वह खुद किसी ओर के हाथ का खिलौना बन जाते हैं।

ऐसा कहा जाता है कि बच्चे देश का भविष्य होते हैं, लेकिन इस वाक्य को शायद ही अब कोई गंभीरता से लेता होगा। बाल मजदूरी के दलदल में फंसे बचपन की सुध लेने वाला कौन है? अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन की एक रिपोर्ट के अनुसार पूरी दुनिया में लगभग 15.2 करोड़ बच्चे बाल श्रम में लगे हुए हैं। भारत में 1.25 करोड़ से अधिक है। पारिवारिक जिम्मेदारी से शुरू हुआ यह पलायन बाल मजदूरी से होता हुआ बाल तस्करी पर पहुंच गया है। मध्यप्रदेश इस पूरे मामले में बरमुंड़ा ट्रांगल की तरह है।



बिहार और उत्तरप्रदेश से आने वाले बच्चों को महाराष्ट्र और गुजरात मध्यप्रदेश के रास्ते ही भेजा जाता है। देशभर में रेल और सड़क मार्गों से कनेक्टिविटी के बीच यह बच्चे कहां गुम हो जाते हैं पता ही नहीं चलता। कुछ

मामलों में अगर कार्रवाई होती भी है तो वह निचले स्तर तक होकर ही रह जाती है। इंदौर और ग्वालियर जिले में बाल श्रमिकों की संख्या काफी अधिक है।

2011 की जनगणना के अनुसार भारत में 5-14 आयु वर्ग के एक करोड़ से भी ज्यादा बच्चे बाल श्रम में धकेले गए हैं। भारत में मजदूरी करने वाले बच्चों में एक बड़ी संख्या ग्रामीण और आदिवासी इलाकों की है। बाल श्रम के मामलों में 80 प्रतिशत की जड़ें ग्रामीण क्षेत्रों में रहती हैं। बच्चों की बड़ी आबादी 33 लाख खेती से जुड़े कामों में लगी है, जबकि अन्य दूसरे कार्यों में लगे हुए हैं। इनमें से कई काम औद्योगिक और जोखिम भरे भी हैं, वहीं कई बच्चे बाल तस्करी का शिकार हैं।

भारत में बाल मजदूरों की सबसे ज्यादा संख्या 5 राज्यों बड़े राज्यों उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान, महाराष्ट्र और मध्य प्रदेश में हैं। सबसे ज्यादा बाल मजदूर उत्तर प्रदेश और बिहार से हैं। उत्तर प्रदेश में 21.80 लाख और बिहार में 10.9 लाख बाल मजदूर हैं। राजस्थान में 8.5 लाख बाल मजदूर हैं। हर दूसरे बच्चे को किसी न किसी तरह भावनात्मक रूप से प्रताड़ित किया जा रहा है। 35 प्रतिशत बच्चे शारीरिक प्रताड़ना के शिकार हो

रहे हैं। भारत में बाल तस्करी होना अब एक आम बात हो गई है। सरकार ने बहुत सारे कदम उठाए हैं, पर कोशिशें उतनी कामयाब होती नहीं दिखीं। हमारे देश में हर एक घंटे से भी कम समय में एक बच्चा लापता होता है। वर्ष 2011 में लगभग 35,000 बच्चों की गुमशुदगी की रिपोर्ट दर्ज की गई थी, जिसमें से 11,000 से ज्यादा बच्चे तो सिर्फ पश्चिम बंगाल से थे।

संयुक्त राष्ट्र की एक रिपोर्ट के मुताबिक भारत में हर साल औसतन 44,500 बच्चे गुम हो जाते हैं। उनमें से कई बच्चों को यौन-शोषण के लिए, कई को बस अड्डों या रेलवे स्टेशनों पर भीख मंगवाने के लिए और कई को मानव अंगों की तस्करी करने वाले गिरोहों के पास पहुंचा दिया जाता है। यह माना जाता है कि ऐसे मामलों में से केवल 30 प्रतिशत मामलों की ही रिपोर्ट दर्ज करवाई जाती है।

बाल-तस्करी का मुख्य केंद्र बिंदु तीन स्तंभों पर टिका है। पहला, पैसे के लिए यौन शोषण, दूसरा मजदूरी कराने के लिए शोषण और तीसरा अंगों की तस्करी। सरकार ने 1986 में चाइल्ड लेबर एक्ट बनाया जिसके तहत बाल मजदूरी को एक अपराध माना गया तथा

रोजगार पाने की न्यूनतम आयु 14 वर्ष कर दी। सरकार नेशनल चाइल्ड लेबर प्रोजेक्ट के रूप में बाल मजदूरी को जड़ से खत्म करने के लिए कदम बढ़ा चुकी है। इस प्रोजेक्ट का उद्देश्य बच्चों को इस संकट से बचाना है। इन सबके पीछे हमारा सामाजिक ढांचा भी कहीं न कहीं जिम्मेदार है।

भारत में बाल मजदूरों की इतनी अधिक संख्या होने का मुख्य कारण गरीबी है। एक तरफ तो ऐसे बच्चों का समूह है 56 भोग का आनंद उठाता है और दूसरी तरफ ऐसे बच्चों का समूह है जो गरीब हैं, अनाथ हैं, जिन्हें पेटभर खाना भी नसीब नहीं होता।

आखिर ये बच्चे क्या करें, कहाँ जाएं ताकि इनकी समस्या का समाधान हो सके। बाल मजदूरी के खिलाफ कानून तो बना दिए। इसे एक अपराध भी घोषित कर दिया, लेकिन क्या इन बच्चों की कभी गंभीरता से सुध ली? इसके लिए सरकार को कुछ ठोस कदम उठाने होंगे। सिर्फ सरकार ही नहीं आम जनता की भी इसमें सहभागिता जरूरी है।

- रूपाली ठाकुर दैनिक भास्कर ग्वालियर में कार्यरत हैं।

शिशु मृत्यु दर : जागरुकता का अभाव



सुमित शर्मा

शिशु मृत्यु दर में मध्यप्रदेश की स्थिति अन्य राज्यों से बदतर है। वर्षों से मध्यप्रदेश शिशु मृत्यु दर में अव्वल बना हुआ है। सबसे ज्यादा स्थिति राजधानी भोपाल की ही खराब है। राजधानी में हर साल नवजात शिशुओं की मौत का आंकड़ा लगातार बढ़ता जा रहा है।

इस मामले में बड़वानी, मुरैना, डिंडौरी जैसे कई अन्य जिलों की स्थिति भी खराब है। बड़वानी जिले के पानसेमल विकासखंड के अंतर्गत आने वाले शिवानी पदौता, मोहलायापानी, वासल्यपनी, वनग्रा, चिच्छ्या, दोंवाड़ा सहित सैकड़ों गांवों में हर साल बड़ी संख्या में नवजात शिशु जन्म लेने के बाद मौत के शिकार हो रहे हैं।

यही स्थिति राजधानी भोपाल से सटे हुए कई गांवों की भी है। राजधानी से करीब 30 किलोमीटर दूर गांव सांकल, ओमनगर, दीपड़ी, बंजारी, ढोली खदान, इनायतपुर सहित कई गांव ऐसे हैं, जहां पर गर्भवती महिलाओं को न तो उचित पोषण आहार दिया जाता है न ही उन्हें बेहतर स्वास्थ्य सुविधाएं मिल पाती हैं।

सीहोर जिले के आदिवासी गांव, भीलपाटी, ढावा, खापा, भेसान, चिचलाय सहित कई गांवों में हर साल बड़ी संख्या में नवजात शिशुओं की मौतें हो रही हैं। यहां की ज्यादातर गर्भवती महिलाएं राजधानी के सरकारी अस्पतालों में इलाज के लिए आती हैं, लेकिन यहां भी उन्हें न तो उचित इलाज मुहैया हो पाता है और न ही स्वास्थ्य सुविधाएं मिल पाती हैं।



शिशुओं की मौतों के पीछे जहां जागरूकता का अभाव है तो वहीं सरकारी सिस्टम की लापरवाही भी है। जागरूकता की कमी के कारण आज भी गांवों में घरों में ही प्रसव कराया जाता है। कई बार समय पर अस्पताल पहुंचने के बाद वहां मौजूद स्टॉफ की लापरवाही भी गर्भवती एवं शिशु की मौत का कारण बनती है।

मध्यप्रदेश में हर वर्ष महिला एवं बाल विकास विभाग का बजट बढ़ाया जा रहा है, लेकिन यह बजट भ्रष्टाचार की भेंट ही चढ़ रहा है। इस बजट का उपयोग जरूरतमंदों तक पहुंच ही नहीं पाता है। दूर-दराज के गांवों में रहने वाले लोगों तक जरूरत के मुताबिक न तो पोषण आहार मिल पाता है और न ही उन्हें स्वास्थ्य सुविधाएं मुहैया कराई जाती है। इन गांवों में पहुंचने के लिए बेहतर संसाधन भी नहीं हैं। जागरूकता के अभाव में ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी घर पर ही प्रसव कराया जाता है। इसके कारण भी नवजात शिशु की मौत का आंकड़ा बढ़ता जा रहा है।

वर्ष 2005-06 में मध्यप्रदेश सरकार ने महिला एवं बाल विकास विभाग का बजट 481.73 करोड़ किया था। इस बजट में साल-दर-साल बढ़ोतरी होती

रही है। वर्ष 2019-20 के बजट में सरकार ने इस विभाग का बजट 5293 करोड़ रुपए रखा है। इसके बावजूद भी शिशु मृत्यु दर के आंकड़े कम नहीं हो रहे हैं।

यह आंकड़े बजट के साथ ही लगातार बढ़ते जा रहे हैं। स्थिति पर गौर करें तो ज्यादातर शिशुओं की मौत का कारण गर्भवती महिलाओं को उचित पोषण आहार नहीं मिलना, समय पर इलाज नहीं मिलना, अस्पताल में उपस्थित स्टाफ की लापरवाही सहित अन्य कारण हैं। स्वास्थ्य विभाग नवजातों की मौत का कारण संक्रमण, कम वजन, समय पूर्व जन्म, निमोनिया, डायरिया बताता है।

पिछले दिनों जारी सैंपल रजिस्ट्रेशन सिस्टम (एसआरएस) की साल 2017 की रिपोर्ट में मध्यप्रदेश ने देश के सामने एक बार फिर शर्मसार किया है। इस रिपोर्ट में मध्यप्रदेश को शिशु मृत्यु दर में पहले स्थान पर रखा गया है। मध्यप्रदेश के शहरों क्षेत्रों में शिशु मृत्यु दर का आंकड़ा 32 प्रतिशत है। जबकि ग्रामीण क्षेत्रों में यह आंकड़ा 51 प्रतिशत पर पहुंच गया है। शिशु मृत्यु दर में बेटियों की बजाए बेटों की स्थिति ज्यादा चिंताजनक है। मध्यप्रदेश में जन्मे हर साल 1000 मेल शिशुओं में से 48 की मौत एक साल के

भीतर हो जाती है। कन्या शिशु की यह दर 45 है। प्रदेश में शिशु मृत्यु दर में राजधानी भोपाल की स्थिति ज्यादा चिंताजनक है।

सबसे ज्यादा शिशु राजधानी में ही दम तोड़ रहे हैं। इंदौर की स्थिति में काफी हद तक सुधार है, लेकिन जबलपुर में भी हर साल सैकड़ों शिशु मौत के मुंह में समा रहे हैं।

लोक स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण विभाग के आंकड़ें देखें तो राजधानी में वर्ष 2015, 2016, 2017 में क्रमशः 1073, 1434, 1023 शिशु ने अपने जन्म के बाद दम तोड़ दिया। बड़वानी जिले में यह आंकड़ा क्रमशः 1085, 1072, 607 है। हालांकि सरकार की रिपोर्ट में आदिवासी जिले डिंडौरी, मंडला, सिंगरौली, अलीराजपुर, झाबुआ में स्थिति बेहतर बताई गई है, लेकिन मुरैना, भिंड में स्थिति चिंताजनक है।

उपाय भी हुए फेल

नवजातों की मौतों को रोकने के लिए प्रदेश के 49 जिला अस्पतालों एवं 5 मेडिकल कॉलेजों में नवजात शिशु गहन चिकित्सा इकाइयां बनाई गई हैं, लेकिन ये उपाय भी शिशुओं की जान बचाने में नाकाफी साबित हो रहे हैं। सिविल

अस्पताल, सामुदायिक स्वास्थ्य केंद्रों में 60 नवजात शिशु स्थिरीकरण इकाइयां बनाई गई हैं। विभाग ने प्रसव केंद्रों पर न्यूबोर्न केयर कार्नर, पीडियाट्रिक इमरजेंसी ट्रायऐज एवं ट्रीटमेंट यूनिट, बाल्य गहन चिकित्सा इकाई, पोषण पुनर्वास केंद्र की स्थापना भी की है, परंतु ये भी नवजातों की मौतों को रोकने में नाकाम साबित हो रहे हैं। इसके अलावा सरकार ने कई अभियान भी चला रखे हैं, लेकिन ये अभियान भी शिशु की मौतों को नहीं रोक पा रहे हैं।

सरकार ने बच्चों के स्वास्थ्य के प्रति जागरुकता लाने के लिए दस्तक अभियान शुरू किया है। इस अभियान के तहत 5 वर्ष से कम उम्र के गंभीर कुपोषित बच्चों की पहचान एवं उन्हें रेफरल एवं प्रबंधन, 6 माह से 5 वर्ष तक के बच्चों में एनीमिया की सक्रिय स्क्रीनिंग एवं प्रबंधन, 9 माह से 5 वर्ष तक के बच्चों को विटामिन-ए देना, 5 वर्ष से कम उम्र के बच्चों में शैशव एवं बाल्यकालीन निमोनिया की पहचान करना एवं उसकी रोकथाम के उपाय करना प्रमुख है।

- सुमित शर्मा भोपाल में स्वदेश के साथ कार्यरत हैं।

सबसे ज्यादा अन्न उपजाने वाले जिले में भी कुपोषण का कहर

जिले में सबसे ज्यादा कुपोषित बच्चे
सिवनी मालवा ब्लॉक में हैं



वीरेन्द्र तिवारी

होशंगाबाद जिला उत्पादन के मामले में सबसे सम्पन्न जिला है, खाने की कमी नहीं है, फिर भी यहाँ बच्चे कुपोषण का शिकार हैं, सिवनी मालवा तहसील में भी बंपर पैदावार होती है फिर भी कुपोषण की स्थिति बहुत ही चिन्ताजनक है। जबकि पहले ऐसी स्थिति नहीं थी। बच्चे और महिलाएं निरोगी हुआ करते थे। जिले में बहुतायत में पैदावार होती है इसके बावजूद भी यहां पर कुपोषण होना विचारणीय है।

सिवनी मालवा विकास खण्ड में एक लाख 85 हजार एकड़ भूमि में बोवनी की जाती है। पिछले वर्ष रबी फसल में सिर्फ गेहूं का उत्पादन 25 लाख क्विंटल हुआ, जिसकी अनुमानित कीमत 475 करोड़ रुपये होती है। वहीं चना का उत्पादन भी 90 हजार क्विंटल हुआ जिसकी अनुमानित कीमत करीब 36 करोड़ रुपये है। हरित क्रांति के बाद से तहसील में केवल गेहूं, चना और सोयाबीन की फसल ली जाती है, इसका असर खानपान पर भी दिखता है, खाते तो खूब हैं, लेकिन पोषक तत्वों की कमी है।

खण्ड चिकित्सा अधिकारी डॉ कांति भास्कर ने बताया कि सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्र सिवनी मालवा के एन.आर.सी. कक्ष में इस वित्तीय साल में अप्रैल 2019 से 12 अक्टूबर 2019 तक ग्रामों से एनआरसी में चेकअप के लिए 224 बच्चे भर्ती हुए थे। एनआरसी में 170 बच्चे कुपोषित की श्रेणी में आये थे जिनका इलाज हुआ और उसमें से 108 बच्चों की जांच की गई और कुपोषित से बाहर हैं।



दस्तक अभियान के दौरान 131 बच्चे आये थे जिन्हें जिला चिकित्सालय होशंगाबाद रेफर किया गया। जिला चिकित्सालय में 131 बच्चों में से 30 कुपोषित हैं और 101 बच्चों को खून चढ़ाया गया।

एकीकृत महिला वाल विकास अधिकारी रामकुमार सोनी ने बताया कि सिवनी मालवा ब्लॉक में कुल-309 केन्द्र हैं जिसमें 0-5 वर्ष के 15456 बच्चे हैं। सीसेम में अति कम वजन के कुल 176 बच्चे निकले जिसमें से सीसेम क्लिनिक में 157 बच्चे भर्ती कराये हैं। एनआरसी में 19 बच्चों को भर्ती कराया है।

अप्रैल 2018 में कम वजन के 2135 बच्चे थे। सितम्बर 2019 में कम वजन के 2019 बच्चे थे जिसमें से वजन में 116 बच्चों में लगातार सुधार हुआ है। दस्तक अभियान में दौरान 332 बच्चों की जांच हुई जिसमें से 7 ग्राम एचवी के 101 बच्चों को जिला चिकित्सालय रेफर किया जिसमें से 94 बच्चे भर्ती हुए और खून चढ़ाया।

अधिकांश ग्रामीण अंचल के लोगों में सन्तुलित भोजन के बारे में जानकारी नहीं होती, इस कारण वह स्वयं अपने बच्चों के भोजन में आवश्यक वस्तुओं का समावेश नहीं करते। शासन द्वारा लाखों रुपये खर्च कर कुपोषण मिटाने के लिए भरसक प्रयास किया जा रहा है और

इतनी योजनाओं के बाद भी कुपोषण में कमी नहीं आ रही है। योजनाएं तो हैं, परन्तु मानिटिरिंग नहीं होने के कारण लाभ नहीं मिल पा रही है।

एक ग्रामीण महिला बताती हैं, हमारे क्षेत्र में चार बच्चे कुपोषित हैं। हम लोग अपने स्तर पर कुपोषण दूर करने की तमाम कोशिश करते रहे हैं लेकिन बच्चों के माँ बाप को भी जागरूक होना पड़ेगा। शासन द्वारा कुपोषण को मिटाने को लेकर अनेक योजनाएं चलाई जा रही हैं परन्तु नतीजा जस का तस बना हुआ है। आंगनवाड़ियों में समूहों के द्वारा बच्चों को भोजन दिया जाता है ताकि बच्चे कुपोषित नहीं हों परन्तु मीनू के अनुसार भोजन नहीं दिया जाता है, जो दिया जाता है वह पोषक तत्वों से भरपूर नहीं होता है। समूह द्वारा गुणवत्तायुक्त भोजन नहीं दिया जाता है। कुछ जगह जहां खाना दिया जाता है वहां नाश्ता नहीं दिया जाता है और जहां पर नाश्ता दिया जाता है वहां पर खाना नहीं दिया जाता, दाल में पानी इतना होता है कि दाल दिखाई ही नहीं देती। खाने में सुधार होगा और पोषक तत्वों से भरपूर भोजन मिलेगा तो कुपोषण को काफी हद तक समाप्त किया जा सकता है।

- वीरेन्द्र तिवारी सिवनी मालवा में स्वराज चैनल के संवाददाता हैं।

Why Mother tongue is important for quality education's?



Sravani Sarkar

Experts have once again pushed for the need of introducing mother tongues (native languages) as the medium of instruction at primary school level for better retention of students and improving quality of education.

The issue has come forth after the recent decision of the Madhya Pradesh government to include Gondi language in primary school curriculum in tribal-dominated districts of the state.

They have pointed out that despite provisions in the Constitution of India and the Right to Education Act, little has been done to pave way for native language as medium of instruction.

The Census of India 2011 had thrown up interesting figures on languages/dialects used in Madhya Pradesh. It showed that an overwhelming majority of people (6.43 crore out of 7.26 crore or 88.2%) spoke Hindi group of languages as their mother tongue.

Hindi group, according to the Census report, however included 47 sub-languages and dialects including Banjari, Garhwali, Kangri, Kulvi, Marwari, Bahgeli, Bundeli, Jaunpuri, Khari Boli, Malvi, Nimari and others. Yet about 4.93 crore categorically said during the census survey that they spoke Hindi as their mother tongue.

Census report also showed that about 248 languages and dialects are spoken in the state, which includes 104 core languages apart from dialects and sub-languages.

However, the worrying aspect that the census figures show is that though 21% of the population in MP is



tribal, only about 7.5-8% of population said that they spoke a tribal language/dialect as mother tongue.

This along with the fact that the literacy of tribal population is just 50.55% in the state compared to overall literacy rate of 70.6% is something that has the activists and experts worried.

They say that the statistics indicate two things first that the native tribal languages are struggling for survival in a state with considerable tribal population and that tribal people who are still using their mother tongue are probably finding it tough to take up education in 'alien' languages.

In this context they have pushed for native language or mother tongue as the medium of instruction at primary level, at least in the areas of linguistic minorities.

“The fact that students are forced to study in language that has been not at all known to them for five or six years of initial life, makes it difficult for them to take any interest in studies.

This leads to high dropout rates and also poor learning. It is important that students are taught in mother tongue at the primary level and then allowed to continue in normal medium of instruction later so that they could compete with others,” Upasana Behar of MP Lok Sangharsh Saajha Manch says.

Rakesh Malviya of Vikas Samvad (the organization that analysed the Census figures on mother tongues) said that an RTI application put up by them showed that in MP nothing had been done to implement the provisions on mother tongue as medium of instruction.

“Despite clear provisions, it is unfortunate that students have been deprived of learning in their mother tongue at initial school level. This is clearly affecting their learning levels and retention levels,” Malviya says.

● Sravani Sarkar is working with The Week for Madhya Pradesh and CG.

Right to Education is an enabling right in itself

By ensuring effective implementation of Right to Education, the implementation of other child rights will become efficacious by default.



Niharika Parashar

We could never have loved the earth so well if we had had no childhood in it (George Eliot, *The Mill on the Floss* (1860).

I'd give all wealth that years have plied,
The slow result of life's decay,
To be once more a little child For one
bright summer day.

(Lewis Carroll, "Solitude")

Children are the most sensitive clan of the society and the future of any society depends upon them. Whether a society will be progressive or retrogressive, whether it will be liberal or orthodox, whether the economy will be flourishing or starving, whether it will be creative or mundane, whether it will be thoughtful or thoughtless, all depends on how the children of that particular society are treated. Despite this indispensable role of kids, they are often overlooked; their needs and issues are frequently ignored because the so called responsible clan is bogged down by their own issues and hence is busy resolving the problems pertaining to adults.

With evolution of time, it was realised that the status of children can be emancipated only with the introduction of organised child rights, hence the United Nations Convention on the Rights of the Child (UNCRC), December 11 1992 which was even ratified by India. International Conventions and Indian Constitution have recognised certain basic rights of the child. But the main challenge lies in the implemen-



tation of these rights. The permanent solution to which lies in child education.

Child Rights are the "rights and freedom to which all children are entitled." All children have special rights by virtue of their status and age. It is not a fixed or static concept, but is constantly evolving or changing or dynamic. It is like a seed, which, once planted, grows slowly and steadily, putting out roots, shoots, branches, leaves and fruits. Children dying of starvation or suffering from acute malnutrition, getting married off at early ages, being trafficked for labour and other purposes are the news we all are familiar with. Violation of child rights is not just limited to the indigent section of the society but the middle class and the elite clan also witness such incidents.

Hence implementing the child rights efficaciously and ensuring minimum violation has become one of the greatest challenges of the present scenario. The permanent solution to this issue lies in focusing comparatively more on one right, that is, Right to Education. It is with the help of this weapon can we strive to make the world a better place for children.

Right to Education being a right in itself is an enabling right. Education is the weapon which can make any battle win. It enables masses to get aware about the rights and freedom entitled

to them. Through education, rights can be claimed, protected and implemented effectively.

The ability to read, write and communicate is an essential element of human race. It this ability which converted humans from hunter, gatherers to a civilised and settled population. Reading and writing was essential during the time of Indus Valley Civilisation and holds equal importance in the contemporary times. It is this ability which has lead nations towards the path of development.

According to the latest survey, the number of schools in MP increased in the year 2016-17 to 143,584 from 142,587 in 2015-16. But the total enrolment declined to 12,386,708 in 2016-17 from 12,801,969 in 2015-16. Taking a look at performing index, 89.8 per cent schools of MP are approachable by all weather roads. Only 27.2 per cent schools of the state have electricity while only 15.1 per cent schools are equipped with computers. Average teachers per school are 3.8 per cent. And sadly the percentage of girls enrolment in schools is mere 47.5 per cent in 2016-17 while 47.6 in 2015-16.

Hence, in order to improve the conditions of the most vulnerable section of the society, stringent measures should be undertaken to improve the conditions of electricity

and computer in the schools of the state, which is the primary level of quality education.

The following provisions in the Indian Constitution clearly spell out the vision of the framers for making basic education available to the children of India.

Article. 21A. The State shall provide free and compulsory education to all children between the age of six to fourteen years in such manner as the State may, by law, determine. (The Eighty-sixth Amendment Act, 2002)

Art. 41. Right to work, education and public assistance in certain cases. The State shall, within the limits of its economic capacity and development, make effective provision for securing the right to work, education and public assistance in cases of unemployment, old age, sickness and disablement, and in other cases of undeserved want.

Art. 45. Provision for free and compulsory education for children. (1) The State shall endeavour to provide, within a period of ten years from the commencement of this Constitution, free and compulsory education for all children until they complete the age of fourteen years. (2) The State shall endeavour to provide early childhood care and education for all children until they complete the age of six years. (The Eighty-sixth Amendment Act, 2002).

Art. 46. Promotion of educational and economic interests of Scheduled Castes, Scheduled Tribes and other weaker sections. The State shall promote special care of the educational and economic interests of the weaker sections of the people, and, in particular, the Scheduled Castes and Scheduled Tribes, and shall protect them from social injustice and all forms of exploitation.

Art. 51 A (k). Mandate to parent or guardian to provide opportunities for education to his child or ward, as the case may be, between the age of six and fourteen years. (The Eighty-sixth Amendment Act, 2002)

Children being the most vital human resource of the nation, require a more deliberate fostering in terms of education, health and safety. The basic framework of civilised society can't be strengthened in the presence of illiterate and unbridled childhood.

● Niharika Parashar is working with Times of India at Gwalior.

बाल



अधिकार



अबरार ख़ान नई दुनिया के फोटो जर्नलिस्ट हैं

देश में सबसे असुरक्षित बचपन

2017 में देश भर में 63,349 बच्चे हुए थे गायब,
इनमें से 10,110 मध्यप्रदेश के थे



हरेकृष्ण दुबोलिया

प्रदेश में बच्चों के प्रति असुरक्षा की स्थिति लगातार बढ़ती जा रही है। प्रदेश के बच्चे बाल तस्करों के निशाने पर हैं। प्रदेश में इस साल बच्चा चोरी के शक में हुई सर्वाधिक मॉब लिचिंग की घटनाओं के बीच सामने आई नेशनल क्राइम रिकार्ड ब्यूरो (एनसीआरबी) की रिपोर्ट भी इसकी पुष्टि करती नजर आ रही है। रिपोर्ट के मुताबिक वर्ष 2017 में देशभर में सर्वाधिक बच्चे मध्यप्रदेश से गायब हुए थे। इस साल देशभर में जहां 63349 बच्चे गायब हुए थे, इनमें 10110 बच्चे (लगभग 16%) अकेले मध्यप्रदेश से थे। मप्र के बाद 8178 बच्चे पश्चिम बंगाल से और 6454 बच्चे दिल्ली से गायब हुए थे। चिंताजनक बात ये है कि मध्यप्रदेश में सर्वाधिक बच्चे इंदौर और भोपाल जैसे शहरों से गायब हुए हैं, जहां पुलिस और प्रशासन सर्वाधिक चौकस और अलर्ट रहता है। भोपाल से 2017 में 518 और इंदौर से 596 बच्चे लापता हुए थे।

एनसीआरबी के मुताबिक जनवरी 2017 से पहले तक मध्यप्रदेश में 4048 बच्चे मिसिंग थे, जो काफी ढूंढने पर भी मिल नहीं पाए थे। इस तरह दिसंबर 2017 तक प्रदेश में कुल गायब बच्चों का आंकड़ा 14158 बताया गया है। इसमें 10448 लड़कियां हैं यानी, यह कुल गायब बच्चों का 73.79% है। जबकि गायब लड़कों की संख्या 3632 बताई है। वहीं प्रदेश में 42 ट्रांसजेंडर बच्चे भी लापता बताए गए हैं।



2017 में देशभर में गायब होने वाले बच्चों की स्थिति

कुल मिसिंग बच्चे	—	63349
लड़कियां	—	42691
लड़के	—	20,555
ट्रांसजेंडर	—	103

प्रदेश के पांच बड़े शहरों से 2017 में गायब हुए बच्चे

शहर	गायब लड़कियां	गायब लड़के	कुल
भोपाल	326	192	518
इंदौर	431	165	596
ग्वालियर	222	141	363
जबलपुर	338	142	480
छिंदवाड़ा	206	73	279

- हरेकृष्ण दुबोलिया दैनिक भास्कर
भोपाल में कार्यरत हैं।

कब तक गीता रहेगी अशिक्षित

पचास हजार बच्चों के सर्वे में अब भी 20 हजार स्कूल से बाहर,
पता नहीं कर पाए कहां गए बच्चे, सबसे बड़ी समस्या पलायन



अतुल पोरवाल

जालछा विकासखंड के ग्राम हैदरी की 10 वर्षीय गीता आज भी अशिक्षित है। वैसे तो गीता कक्षा पांचवी में पढ़ रही है, लेकिन उसे कक्षा दूसरी किताब पढ़ने में भी कष्ट होता है। ऐसी कई गीता और बच्चे हैं, जो किताब पढ़ने में सक्षम नहीं हैं। इनको शिक्षित करने के लिए कोशिश तो हो रही है, लेकिन बच्चे शिक्षित हो नहीं रहे हैं।

इस तरह के हालात में अब बच्चों के भविष्य पर चिंता की लकीरें खिंचने लगी हैं। जिला परियोजना समन्वयक कार्यालय के अनुसार स्कूल से बाहर जिले भर के 54 हजार 946 बच्चों का सर्वे हुआ, तो आखिर तक लगभग 20 हजार बच्चों का हिसाब किताब नहीं मिल सका।

इससे साफ हो रहा है कि जिले भर के 20 हजार बच्चे अब भी स्कूल से बाहर हैं। वर्ष 2015-16 तक स्कूल से बाहर रहने वाले बच्चों के आंकड़ों में पोर्टल पर दर्ज स्थितियां और भी हास्यास्पद हैं। किसी के आगे पलायन कारण लिखा तो किसी के आगे छोटे भाई, बहन की देखरेख, मजदूरी, खेती का काम करने, मवेशी चराने जैसे कारण लिखे गए।

आदिवासी अंचल धार जिले में स्त्री की स्थिति गीता को देखने से मिलती है। गीता एक ऐसा उदाहरण है, जो कि उन सभी आदिवासी बच्चों में देखने को मिलती है, जिन्होंने इस सिस्टम में शिक्षा तो ली, लेकिन अब भी वे पिछड़े हुए हैं।



सरकार बनती है और कहा जाता है कि शिक्षकों की तैनाती की जाएगी। प्रक्रिया में 5 साल गुजर जाते हैं, जिसके बाद 5 साल परीक्षा लेने और उसकी रिजल्ट घोषित करने में निकल जाते हैं। इस तरह से 10 साल बाद भी स्कूलों को शिक्षक नहीं मिल पाते हैं। ऐसी परिस्थितियों में भले ही प्रतिभा पर्व की बात की जाए और तमाम सरकारी कोशिश की जाए, लेकिन आज भी स्कूल में बच्चों को शिक्षा के नाम पर केवल साक्षर बनाया जा रहा है। जबकि हजारों बच्चों का भविष्य तभी बन सकता है जब उन्हें शिक्षित किया जाए।

शिक्षित करना एक अहम व्यवस्था को जीने का हिस्सा है। इसलिए अब शिक्षक की कमी से लेकर बुनियादी स्तर पर जितने भी तकलीफ के दौर हैं, उनको खत्म करना होगा वरना बच्चे शिक्षा के अधिकार को तो प्राप्त कर लेंगे, लेकिन उससे उनकी साक्षर होने की क्षमता ही बन जाएगी। उन्हें अपना ज्ञान अर्जित करना है और उस के दम पर आदिवासी अंचल से उस सड़क तक पहुंचना है, जिसे लोग विकास की मुख्यधारा कहते हैं। उस राह पर पहुंचना है जहां पर विकास इंतजार कर रहा है। उस स्थान पर पहुंचना है जहां पर विकास को गले लगाया जा सकता है।

कल्पना कीजिए कि एक अंग्रेजी माध्यम

के स्कूल में पढ़ने वाला बच्चा क्या आदिवासी अंचल के सरकारी स्कूल के बच्चे की बराबरी कर पाएगा। ठीक है कि वह खेलकूद गतिविधियों और अन्य स्तर पर पिछड़ जाए, लेकिन क्या उसे किताब पढ़ना भी नहीं आना चाहिए।

स्कूलों में बच्चों की उपस्थिति और उपस्थिति के बाद में पालक शिक्षक अनुपात के आधार पर बच्चों को टीचर उपलब्ध हों और वे टीचर गुणवत्ता के साथ शिक्षा दें या यूँ कहें कि गुणवत्तापूर्ण शिक्षा दें, जिससे व्यवस्था में बदलाव आएगा।

कुल लक्षित छात्र, छात्राएं — 54946

शाला में प्रवेश हेतु चिन्हित
बच्चे — 9304

बच्चे जिनका परिवार पलायन कर
चुका है — 8147

सर्वे में 18 वर्ष से अधिक आयु वाले
बच्चे — 1809

मृत्यु प्रकरण — 428

गृह संपर्क के समय गैर मौजूद
परिवार — 1855

कुल प्रवेशित बच्चे — 1938

26 नवंबर तक सर्वे का आंकड़ा

सोर्स : शिक्षा विभाग का पोर्टल

- अतुल पोरवाल धार जिले में पत्रिका में कार्यरत हैं।

जानबूझकर गलती करने वालों को जागरूक नहीं किया जा सकता



शरबानी बैनजी

सुनीता जी (काल्पनिक नाम) खुद एक रचनात्मक क्षेत्र से जुड़ी हुई हैं। सभी उनकी कला की दिल खोलकर प्रशंसा करते हैं। वो खुद अपने साक्षात्कार में बता चुकी हैं की वे पढ़ाई में बेहद औसत थीं। यही नहीं, स्कूल में जब वो सेशन लेने जाती हैं तो बच्चों और अभिभावकों से ये भी कहती हैं कि बच्चों पर पढ़ाई के लिए दबाव न डालकर उन्हें उनके मन की करने दें। मगर जब इन्ही सुनीता जी को अपनी भांजी का एडमिशन करवाना था, तो उन्होंने किसी ऐसे स्कूल का चुनाव करने के बजाय जो कलात्मक व अन्य प्रतिभाओं को बढ़ावा देते हैं, एक ऐसे स्कूल को चुना जिसमें सिर्फ और सिर्फ पढ़ाई पर फोकस किया जाता है। जब घरवालों ने ये सवाल उठाया की भांजी पढ़ने में कमजोर है और वहां का प्रेशर शायद ही झेल पाए, तो सुनीता जी ने ये कहते हुए सबकी बात खारिज कर दी की जरूरत पड़ने पर वे ट्यूटर का इंतजाम कर लेंगी, लेकिन भांजी की 'एजुकेशन' से कोई समझौता नहीं करेंगी।

विनीत जी बाल अधिकारों को लेकर काफी जागरूक मालूम होते थे। कहीं भी अगर इस मुद्दे पर चर्चा हो रही हो तो उनके तर्कों के आगे सब घुटने टेक देते थे। मगर उनके दफ्तर में चाय पहुंचाने वाले छोटू से उन्होंने कभी ये जानने की जहमत नहीं उठाई थी कि वो स्कूल जाता भी है या नहीं। वो अपने पिता का हाथ बांटता है या किसी सेठ की चाकरी करता है। बल्कि चाय के लिए देरी होने पर बड़ी बेरहमी से उसके पैसे भी काट लेते थे।



शहर में चारों ओर नजर उठाकर देखें तो हमें हर तबके में बच्चों के अधिकारों और उनकी इच्छाओं का दमन होते दिखेगा। हाई क्लास सोसाइटीज में जहाँ रेपुटेशन के नाम पर उन पर बेहतर परफॉरमेंस का प्रेशर बनाया जाता है, वहीं निचले तबके में परिवार की जिम्मेदारी का बोझ उनके नाजुक कंधों पर डाल दिया जाता है।

ये तो हुई दो तबकों की बात। एक और तबका है जो इन दोनों के बीच आता है। हम में से ज्यादातर लोग इसी तबके के हैं। ये है मिडिल क्लास। ये बात तो सभी जानते हैं कि ये तबका हर मुद्दे पे बस सैंडविच बना रहता है। तो फिर जब बात बाल अधिकारों, शिक्षा या शिशु स्वास्थ्य की हो, तो इस तबके से 'जरा हटके' की उम्मीद भला कैसे की जा सकती है। मिडिल क्लास बच्चे भी ओवर और अंडर प्रिविलेज बच्चों के बीच कहीं खोकर रह जाते हैं। इन्हें निचले तबके के बच्चों की तरह कभी घर की छोटी बड़ी जिम्मेदारियां थमा दी जाती हैं तो कभी हाई क्लास सोसाइटी के बच्चों की तरह माँ बाप के उम्मीदों का बोझ इनके कंधों पर लाद दिया जाता है। एक सर्वे के अनुसार स्कूल जाने वाले बच्चों में से लगभग 68 प्रतिशत बच्चों में डिप्रेशन के लक्षण देखे जा सकते हैं।

वहीं एक और हालिया सर्वे के अनुसार

भारत में दो साल की उम्र के 7 प्रतिशत से भी कम बच्चों को सही आहार मिलता है। इसमें भी निचले तबके के साथ-साथ मिडिल क्लास भी शामिल है जो बच्चों को आहार के नाम पर चिप्स, कुरकुरे और कोल्ड ड्रिंक देने से बिलकुल भी नहीं हिचकता। उल्टा उनके लिए ये स्टेटस सिंबल हो चुका है। इसका जीता जागता उदहारण मुझे हाल ही में ट्रेन में सफर करने के दौरान मिला जब लगभग दो साल की बच्ची की जिद पर उसके मामा ने उसे चिप्स और कोल्ड ड्रिंक (और वो भी कोक जिसे बड़ों के लिए भी जहर माना जाता है) बड़े शौक से दिला दी। उन्हें इस बात की खुशी थी की वे बच्ची की फरमाइशें पूरी कर पा रहे हैं। और तो और साथ में सफर कर रहे बच्ची के माता-पिता भी इस बात से फूले नहीं समां रहे थे।

यहां ये बात सोचने लायक है कि क्या अभिभावकों के पास सही शिक्षा और जानकारी है, जो वो अपने बच्चों के अधिकारों के बारे में सोच सकें? अगर पढ़े लिखे माता-पिता भी अपने बच्चों को स्टेटस और सोसाइटी के नाम पर सही शिक्षा पद्धति, भोजन व सही परवरिश से दूर रखें तो ऐसे लोगों में जागरूकता लाना बहुत ही ज्यादा मुश्किल है।

- शरबानी बनर्जी भोपाल में स्वतंत्र पत्रकारिता कर रही हैं।

बुंदेलखंड में हर दूसरे दिन गायब हो रहे नाबालिग

इस साल छतरपुर जिले से गायब हो चुके 203 नाबालिग,
गुमशुदगी कायम करने तक सीमित है पुलिस की कार्रवाई



नीरज सोनी

बुंदेलखंड के छतरपुर जिले से मानव तस्करी चिंताजनक स्थिति तक पहुंच गई है। हर दूसरे दिन एक नाबालिग लापता हो जाता है। पुलिस थानों में गुमशुदगी के दर्ज आंकड़ों की बढ़ती संख्या इस बात की गवाही दे रहे हैं। इस साल के शुरुआत में जहां 43 नाबालिग जिलेभर से लापता थे, वहीं अब साल के खत्म होते-होते यह आंकड़ा दो सौ के पार हो गया है। इनमें से महज दो दर्जन मामलों की ही रिकवरी हो पाई है। जिले के नौगांव थाना क्षेत्र से एक महीने में चार नाबालिग बच्चे लापता हुए हैं। खजुराहो से इस महीने तीन नाबालिग लापता हैं। दो दिन पहले ही गोयरा थाना क्षेत्र से पांच साल का बच्चा लापता हुआ है। पीड़ित परिवार थानों के चक्कर काट रहे हैं। रेलवे स्टेशनों पर उन्हें खोजते फिर रहे हैं।

यह कोई नए मामले नहीं हैं, बल्कि जिले सहित पूरे बुंदेलखंड में हर दूसरे दिन ऐसी घटनाएं सामने आ रही हैं। गांव की भोली-भाली बच्चियों और बच्चों को यहां से ले जाकर बाहर बेचा जा रहा है। सीधे तौर पर मामला ह्यूमन ट्रैफिकिंग का है, लेकिन पुलिस गुमशुदगी का मामला दर्ज करने तक ही सीमित रहती है। मार्च महीने में अंकिता अग्निहोत्री नाम की 16 साल की नाबालिग को रोजगार दिलाने के नाम पर एक गिरोह उठाकर ले गया



था। नैगुवां गांव की इस लड़की को जब बरामद किया तो पता चला कि उसे एक ऐसे गिरोह ने अपने जाल में फांस लिया था, जो वेश्यावृत्ति जैसे धिनौने कृत्यों में लिप्त था। पुलिस ने इस मामले में आरोपियों तक पहुंचने का कोई प्रयास नहीं किया, बल्कि लड़की को बरामद दिखाकर केस में खात्मा लगा दिया।

बुंदेलखंड सहित पूरे देश में नाबालिगों की गुमशुदगी का आंकड़ा साल दर साल बढ़ रहा है। हर साल घर से गायब होने वाले बच्चों में से 20 फीसदी ही लौटकर नहीं आते जिससे उनको अलग-अलग प्रयोजनों से दूसरे प्रदेशों में बेचे जाने की आशंका से भी इनकार नहीं किया जा सकता। छतरपुर के अलावा सागर, टीकमगढ़, दमोह और पन्ना जिलों से भी जनवरी से अब तक करीब 618 नाबालिग गायब हैं। साल के शुरुआती तीन माह में ही छतरपुर जिले से 43 बच्चे लापता हुए थे। इनमें से महज 12 की रिकवरी हो पाई। अभी यह आंकड़ा 200 के पार चला गया है।

मध्यप्रदेश से लापता हजारों नाबालिगों का सुराग नहीं

मप्र चाइल्ड हेल्पलाइन के ताजा अधिकृत आंकड़ों के अनुसार जब यह लेख तैयार किया जा रहा था उसके 24 घंटा में

बुंदेलखंड सहित मप्र से 33 बच्चे लापता हुए हैं। वहीं एक साल में 10 हजार 567 बच्चे गायब हुए। इनमें से 8 हजार 864 बरामद कर लिए गए, लेकिन 1 हजार 703 बच्चे अभी भी लापता हैं। वहीं मध्य प्रदेश में पिछले 5 सालों में 4990 नाबालिग लड़कियां लापता हुई हैं, जिनका अभी तक कोई सुराग नहीं मिल पाया है।

यह खुलासा पिछली विधानसभा में सरकार की ओर से दिए गए जवाब में हुआ था। तत्कालीन कांग्रेस विधायक रामनिवास रावत ने पिछली विधानसभा में मानव तस्करी का मसला उठाया था। उनका आरोप था कि राज्य में लड़कियों की मानव तस्करी के मामलों में 2008 से 2013 के बीच कई मामले सामने आए हैं। वहीं रावत के आरोपों को नकारते हुए तत्कालीन गृहमंत्री उमाशंकर गुप्ता ने बताया था कि पांच सालों में लड़कियों की मानव तस्करी के 178 मामले ही सामने आए हैं। इनमें 40 वयस्क और 138 नाबालिग लड़कियों से जुड़े मामले हैं।

मप्र में पांच साल में लापता हो गई पांच हजार लड़कियां

उमाशंकर गुप्ता के जवाब पर सवाल उठाते हुए रावत ने कहा कि पांच साल में

लापता हुई नाबालिग लड़कियों में से 4990 का अब तक पता नहीं चल पाया है, लिहाजा यह भी मानव तस्करी से जुड़े मामले हैं। गृहमंत्री ने बताया था कि पांच सालों में 29,828 नाबालिग लड़कियां लापता हुई थी, इनमें से 4990 अब भी लापता की श्रेणी में है। कई बार गुम हुई लड़कियां घर वापस आ जाती हैं, मगर उनके परिजन पुलिस को सूचित नहीं करते हैं। लापता लड़कियों का सही ब्यौरा तैयार करने के लिए पुलिस द्वारा विशेष अभियान चलाए जाने की बात कही गई थी, लेकिन आज तक इस दिशा में कोई ठोस पहल नहीं हुई है।

मग्न में ह्यूमन ट्रैफिकिंग के तीन साल के आंकड़े :

2014 में 6689

लड़का — 2689, लड़की — 4000

2015 में 7919

लड़का — 2329, लड़की — 5590

2016 में 8503

लड़का — 2466, लड़की — 6037

- नीरज सोनी छतरपुर में पत्रिका में कार्यरत हैं।

बच्चों को अपनी भाषा और बोली में शिक्षा क्यों नहीं



अमिताभ पाण्डेय

भाषा जो कि बच्चे को अपने आस-पास के परिवेश और संस्कृति से जोड़ती है वह उसके जीवन की प्रगति में लगातार अपनी महत्वपूर्ण भूमिका जन्म से मृत्यु तक निभाती है। भाषा बच्चे को अभिव्यक्ति में मदद करने के साथ ही परिवार और समाज में उसके रिश्ते को भावनात्मक रूप से मजबूत बनाती है।

भाषा विज्ञान के जानकार यह मानते हैं कि एक बच्चे में एक से अधिक भाषा को सीखने, समझने की क्षमता होती है, लेकिन उसकी क्षेत्रीय-स्थानीय भाषा उसे चीजों को समझने में ज्यादा मदद करती है जिससे उसका दिमाग तेज होता है। बच्चा अपने आस-पास जो भाषा सुनता है उसमें उसको समझने, शिक्षा ग्रहण करने में आसानी होती है।

यदि आंगनवाड़ी, स्कूल में भी बच्चों के लिए क्षेत्रीय-स्थानीय भाषा का उपयोग किया जाए तो इससे बच्चों को आगे बढ़ने में मदद मिलती है। उनका मानसिक विकास तेजी से होता है।

वर्ष 1964-1966 में गठित कोठारी ने के अनुसार भारत के हर स्कूल में बिना किसी भेदभाव से सभी बच्चों को मातृभाषा अथवा स्थानीय भाषा में ही प्राथमिक शिक्षा दी जानी चाहिए। इसके बाद ही बच्चों को अंग्रेजी सीखने-सिखाने की व्यवस्था की जाए। इस नीति को अब तक लागू नहीं किया जा सका है।

अंग्रेजी मोह से स्थानीय भाषा अथवा क्षेत्रीय स्तर पर बोले



जाने वाली बोलियों का महत्व कम हो रहा है। देश के विभिन्न राज्यों, जनजाति समुदाय में बोली जाने वाली मातृभाषा, स्थानीय भाषा, क्षेत्रीय बोलियों को नुकसान पहुंच रहा है।

स्थानीय भाषा, बोलियों को जानने, समझने वाले लोग कम होते जा रहे हैं। इसका कारण यह है कि अंग्रेजी में बचपन में पढ़ने वाले बच्चों की रुचि स्थानीय भाषाओं, क्षेत्रीय बोलियों में कमी होती जा रही है। इसके साथ जो सांस्कृतिक विविधता है वह भी नष्ट हो रही है। भारत की राजभाषा हिन्दी ऐसी भाषा है जिसके समूह में 47 अन्य भाषायें शामिल हैं। इसमें शामिल उपभाषाओं, समुदाय में बोली जाने वाली बोलियों की संख्या 200 से भी अधिक है।

वर्ष 2011 की जनगणना के अनुसार मप्र की कुल जनसंख्या 7 करोड़ 26 लाख है। मध्यप्रदेश हिन्दी भाषी प्रदेश है जहां के 6 करोड़ 43 लाख से ज्यादा लोग हिन्दी भाषा को मुख्य भाषा के रूप में उपयोग करते हैं। इनकी सहयोगी उपभाषायें एवं क्षेत्रीय बोलियां भी हैं, ऐसी उपभाषाओं, क्षेत्रीय बोलियों में मालवी, निमाड़ी, भीली, गोंडी, बुन्देलखण्डी, बघेली जैसी लगभग 248 बोलियां शामिल हैं।

मध्यप्रदेश में कुछ भाषाओं को बोलने वालों की संख्या 10 से भी कम रह गई है। उदाहरण के लिए खासी-खेजा, हमल, कबाई, गंगटे, शिना, रेनगमां, मरींग, हमर, सेम, भूमिज नाक भाषा बोलने वाले लोगों की संख्या मात्र 1-1 है। इसी प्रकार बाल्टी, कोच, कोडा-कोरा, लिंगमेई, मोख नामक भाषा के बोलने वाले केवल 2-2 लोग बचे हैं। तेंगसा, गाडो, सावारा, वान्यो, जलिअंग, जैमी, कोम, चाखेसंग-चकरू-चोकरी नामक भाषा के बोलने वाले केवल 5-5 लोग और देओरी नामक भाषा के जानकार लोगों की संख्या केवल 7 तक ही सीमित होकर रह गई है। इन दुर्लभ भाषाओं के जानकार लोग बहुत कम बचे हैं।

ऐसे समय जबकि दुनियाभर में हिन्दी को जानने व समझने वाले लगातार बढ़ रहे हैं, हमारे शैक्षणिक संस्थानों में अंग्रेजी भाषा के प्रति लगातार झुकाव बढ़ता जा रहा है। बच्चों को हम बचपन से ही पश्चिमी सभ्यता के प्रति प्रोत्साहित करना चाहते हैं और उन्हें अंग्रेजी के शब्द रटवाना चाहते हैं। भले ही यह सभ्यता और संस्कृति भारतीय आचार, विचार, परंपराओं के अनुकूल नहीं हो।

बच्चा सबसे अच्छी तरह से उसी भाषा में बोल और समझ सकता है जिस भाषा का

प्रयोग उसकी मां, पिता अथवा परिवारजन करते हैं। बच्चों को उनके परिवार में बोली गई भाषा के आधार पर हम आसानी से सब सीखा सकते हैं। अक्सर यह देखा गया है कि गांव, शहरों के छोटे-छोटे स्कूलों में भी बच्चों को अब उनकी मातृभाषा में शिक्षा नहीं दी जा रही है। शैक्षणिक पाठ्यक्रम मातृभाषा में तैयार करने की बजाय उसमें अंग्रेजी का अधिक प्रयोग कर रहे हैं।

प्राथमिक शिक्षा के लिए इन दिनों जो पाठ्यक्रम तैयार किये जा रहे हैं, उनमें स्थानीय भाषा, क्षेत्रीय बोली को महत्व नहीं मिलता है। बच्चों के पाठ्यक्रम में पूर्व प्राथमिक कक्षाओं से ही हिन्दी, अंग्रेजी का अधिकांश उपयोग देखने, सुनने को मिल रहा है।

आदिम समुदाय, जनजातीय समुदाय के लोग परंपरा से उनकी अपनी भाषा में संवाद करते आये हैं। गोंड, बेगा, कोरकू, भील, सहरिया, नट, पारधी सहित अनेक आदिम समुदाय की अपनी खुद की भाषा है जो उन्हें विरासत में मिली है। वे लोग आपसी बातचीत में इसी भाषा का उपयोग करते हैं। उनके बच्चे भी यही भाषा समझते हैं।

अंग्रेजी भाषा में शिक्षा ग्रहण करने के बजाय वे स्कूल छोड़कर अशिक्षित रहते

हैं। यह सच है कि आदिम समुदाय के बच्चों को उनकी परंपरागत भाषा और बोली से जानबूझकर दूर किया जा रहा है, जबकि उन्हें प्राथमिक शिक्षा उनकी ही भाषा में दी जाना चाहिए।

मध्यप्रदेश राज्य शिक्षा केन्द्र के अमिताभ अनुरागी ने बताया कि शैक्षणिक पाठ्यक्रम में चार भाषाओं हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू, मराठी की पुस्तकें ही शामिल हैं। उन्होंने कहा कि स्कूली बच्चों के लिए क्षेत्रीय बोलियों-स्थानीय भाषाओं में किसी पुस्तक का प्रकाशन नहीं किया जाता है। इनका उपयोग राज्य शिक्षा केन्द्र की ओर से शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रमों में किया जाता है। शिक्षाविद् पूर्व प्राथमिक, प्राथमिक कक्षाओं वाले बच्चों के लिए जो पाठ्यक्रम बनाते हैं उनसे पूछा कि मालवी, निमाड़ी, बुन्देलखंडी, गोंडी, भीली, कोरकू अथवा ऐसी ही अन्य क्षेत्रीय भाषाओं, बोलियों को स्कूल के पाठ्यक्रम में पर्याप्त जगह क्यों नहीं मिल पा रही है? अंग्रेजी को पूर्व प्राथमिक कक्षाओं से ही इतना महत्व दिये जाने से किसको और क्या फायदा हो रहा है? इसको गहराई से देखने, समझने की जरूरत है।

- अमिताभ पांडेय भोपाल में स्वतंत्र पत्रकारिता कर रहे हैं।

सरकार और समाज के साथ अभिभावकों को भी लेनी होगी जिम्मेदारी



शिवप्रताप सिंह भदौरिया

जैसे-जैसे हम आधुनिक हो रहे हैं विकास के नए सोपान गढ़ रहे हैं वैसे-वैसे ही हम बच्चों को प्रयोगशाला बनाते जा रहे हैं। उनके जन्म से लेकर प्राथमिक शिक्षा तक इतने प्रयोग हैं कि बच्चे न ही अपना बचपन जी पाते हैं और पूर्ण रूप से स्वस्थ रह पाते हैं। सरकारें पोषण पर जितनी चिंतित नजर आती हैं उतनी ही जमीन पर कार्य के प्रति विमुखता भी झलकती है।

चंबल में मुरैना जिले का पहाडगढ़ विकासखंड और श्योपुर जिले के कराहल, विजयपुर और श्योपुर के किसी भी ग्राम में चले जाइए आपको समाज, सरकार की उदासीनता मिलेगी। कराहल विकासखंड में हुई बच्चों की मौत का मामला जब उजागर किया तो बच्चों को ही शिफ्ट कर दिया गया, और पूरे मामले पर चुप्पी साध ली।

हमारे राज्य में प्रति हजार जीवित शिशुओं पर 47 की मृत्युदर है। यह अन्य राज्यों से सबसे अधिक है। पांच वर्ष तक के बच्चों की तो उनकी मृत्युदर 77 है। यह भी यदि असम को छोड़ दिया जाए तो सबसे अधिक है। चंबल में बच्चों के नौनिहालों के प्रति सरकार और समाज की उदासीनता है इसमें कोई दो राय नहीं है। एकिकृत बाल विकास के संचालन की स्थिति ही आए दिन कुपोषित सी होती है और सवाल के दायरे में होती है। विगत दो माह तक पोषण आहार ही नहीं पहुंचा। अब आप अंदाजा लगाइए कि यदि ऐसा हो कि किसी को दो माह तक पर्याप्त पोषण ही न मिले और आप फिर यह कहें कि सब



ठीक है तो इससे ज्यादा हास्यास्पद क्या हो सकता है?

ग्राम स्तर पर कुपोषण को दूर करने की सबसे सशक्त इकाई आंगनवाड़ी और एएनएम ही है, लेकिन इनकी जिम्मेदारियों से हर ग्राम में लोग असंतुष्ट ही रहते हैं। सरकार जब तक इस स्तर पर आकर पहल नहीं करती हम जादूगरी भरे आंकड़ों में जीते रहेंगे। हमें इनसे निजात पाना है तो शुरुआत इस स्तर से करनी होगी। हर स्तर पर समीक्षा की आवश्यकता है केवल दलिया देकर पोषण की बात करना भी सही सोच नहीं है। छह वर्ष तक बच्चे को स्वस्थ और पोषित रहने के लिए 300 कैलोरी और 8 से 10 ग्राम प्रोटीन मिलना चाहिए। इस आधार पर अंडे का चयन हो सकता है। अंडे को यदि क्षेत्र के अनुसार करें तो बेहतर होगा क्योंकि ऐसा नहीं है कि प्रोटीन और पोषक तत्वों का एक मात्र अंडा ही है और भी बहुत से माध्यम हैं।

आज भी अस्पताल में आसानी से लोग प्रसूता को लाने में कतराते हैं। उसकी एक वजह यह भी है कि अब अस्पतालों में जो पैसे को लेकर दबाव बनाया जाता है उससे लोग बचना चाहते हैं। आज स्थिति यह है कि लगभग 90 फीसदी प्रसव में सीजेरियन का डॉक्टर कह कर

एक मोटी रकम की मांग कर देते हैं। ऐसे परिजनों को बेहद मुश्किल होती है और वे स्थानीय स्तर पर ही प्रसव कराने को प्राथमिकता दे बैठते हैं। हालांकि सरकारी आंकड़े शत-प्रतिशत का दावा करके अपनी पीठ थपथपा कर इतिश्री कर लेता है, लेकिन एक स्थिति यह भी है कि प्रसव का शत-प्रतिशत का दावा भले कर लिया जाए पर स्थिति इतनी सुखद है नहीं।

चंबल में एक इस प्रकार के अभियान की आवश्यकता भी है कि डॉक्टर्स द्वारा सिजेरियन ऑपरेशन थोपा नहीं जाए, स्थिति गंभीर हो तभी यह किया जाए।

बच्चों के प्रति उदासीनता की एक वजह यह भी है कि वहां रोजगार के अवसर कम हैं। जिसकी वजह से प्रति व्यक्ति आय अधिक नहीं है लोग खेती किसानों पर अधिक निर्भर हैं। आज चंबल संभाग में कोई ऐसा प्रतिष्ठित उद्योग नहीं है जिसमें अच्छी संख्या में लोग रोजगार पा रहे हों। इसलिए लोगों को अपने-अपने छोटे व्यवसायों पर निर्भर होना पड़ रहा है, जिसका सीधा असर उनके परिवार के भरण और पोषण पर पड़ा। यह भी सच है इस क्षेत्र में इन विषयों को लेकर कोई जन आंदोलन नहीं छेड़ा गया, सरकारी कार्यकलाप भी सीमित हैं और ग्रामों में

आंगनवाड़ी किसी न किसी बड़े और प्रतिष्ठित वर्ग के अधिकार क्षेत्र में है, इसलिए वहां से प्रभावी संचालन हमेशा प्रश्नचिन्हों के दायरे में रहता है। चंबल में एक जन आंदोलन की आवश्यकता है।

वक्त बदला भी है, लोग जागे भी हैं पर यह बच्चों के लिए पर्याप्त नहीं है। परिजनों, अभिभावकों और समाज को यह बोध कराना आवश्यक है कि बच्चों की सेहत और उनके पोषण को हल्के में न लें और इनके लिए संजीदा होकर कार्य करें।

- शिवप्रताप सिंह भदौरिया
सोसायटी फॉर मीडिया पत्रिका के
कार्यकारी संपादक हैं।

कुपोषित आदिवासी बच्चों के लिए सरकार की अधूरी तैयारी !



एकता शर्मा

धार, झाबुआ और आलीराजपुर में कुपोषण ऐसा कलंक बन गया है, जिसे मिटाने के लिए जितना प्रयास हो रहा है वह नाकाफी हो रहा है। महिला एवं बाल विकास विभाग को 2209 करोड़ 49 लाख रुपए का बजट मुहैया जाता है लेकिन, इन पिछड़े जिलों में जिस तेजी से कुपोषण फैल रहा है, उससे सरकार के सारे प्रयास बेमानी साबित हो रहे हैं।

आदिवासियों, दलितों और समाज के अन्य वंचित समुदाय में नवजात शिशुओं से लेकर पांच वर्ष तक की आयु के 60% बच्चे कुपोषण की समस्या से ग्रस्त होने के कारण कमजोर और बीमार हैं। इनमें से कई बच्चों की असमय मौत हो जाती है। झाबुआ, आलीराजपुर, और धार जिलों में अतिकुपोषित बच्चों की संख्या 7% से 15% तक रही। इन ताजे परिणामों से भी साबित होता है, कि मध्यप्रदेश में बच्चों में कुपोषण की स्थिति काफी खतरनाक स्थिति में हैं।

इस मामले को लेकर प्रदेश सरकार और प्रशासनिक अमला कितना गंभीर है, इसका अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि प्रदेश में 'समेकित बाल विकास सेवाओं' के लिए पूरे राज्य में जहाँ 1 लाख 46 हजार आंगनवाड़ी केंद्रों की जरूरत है, वहां राज्य में केवल 70 हजार आंगनवाड़ी केंद्र ही संचालित हो रहे हैं। जो कि राज्य के 76% बच्चों को ही अपनी सेवाएं दे पा रही हैं, जबकि एक चौथाई बच्चे अभी भी बाल कल्याण सेवाओं से पूरी तरह



से वंचित हैं। प्रदेश की केवल 13 हजार आदिवासी बस्तियों में 'समेकित बाल विकास सेवा' का लाभ पहुंच रहा है, लेकिन करीब 4200 आदिवासी बस्तियां इस सेवा से आज भी वंचित हैं।

आदिवासी इलाकों में वहां के रहवासियों के लिए चलाई जा रही अधिकांश योजनाएं अपेक्षा के अनुरूप परिणाम नहीं दे पा रही! आदिवासी और शहरों में बसे दलित और वंचित लोग अपने बच्चों का ठीक से पेट भी नहीं भर पा रहे, तो वो उन्हें पोषण आहार कैसे देंगे, ये सोचा जा सकता है। ये लोग परिस्थितियों से संघर्ष कर रहे हैं, उनमें सबसे ज्यादा खराब स्थिति खाद्यान्न को लेकर है! केंद्र सरकार ने 'खाद्यान्न सुरक्षा कानून' लागू किया है, पर उसका भी समुचित लाभ समाज के इस वर्ग को नहीं मिल पा रहा।

भूख और कुपोषण के कारण मध्यप्रदेश में पिछले कुछ सालों में छह वर्ष से कम उम्र के 55% बच्चों की मौत हुई! 'रीजनल मेडिकल रिसर्च सेंटर फार ट्राइबल' के एक अध्ययन के अनुसार आदिवासियों के 93.5 प्रतिशत बच्चे कुपोषण के शिकार हैं। 58% से अधिक महिलाएं एनीमिया (रक्तअल्पता) सहित विभिन्न बीमारियों की शिकार हैं, इस कारण उनके नवजात बच्चे कुपोषित जन्म लेते हैं। यही

कुपोषण आदिवासियों के नवजात बच्चों की सर्वाधिक मौत का बड़ा इस समुदाय के सामने जीवित रहने का संकट उत्पन्न हो गया है।

पर्याप्त पौष्टिक भोजन का अभाव में जी तोड़ मेहनत करने वाला आदिवासी समुदाय अपने परिवार के लिए भरपेट भोजन तक का इंतजाम नहीं कर पाता। महिलाएं बीमार होकर बीमार बच्चों को जन्म दे रही हैं। समय पर ठीक उपचार नहीं मिलने से माँ और बच्चे बेमौत मर रहे हैं। ऐसे हालात सरकार द्वारा चलाए जा रहे पोषण पुनर्वास केन्द्रों और आंगनवाड़ी केन्द्रों की कार्यप्रणाली पर सवाल खड़े करती हैं। कुपोषण को दूर करने के लिए सरकार की ओर से जो पोषण आहार उपलब्ध कराया जाता है, वह सभी बच्चों को नियमित नहीं मिल पा रहा है।

महिला बाल विकास अधिकारी द्वारा पोषण आहार बेचे जाने के मामले भी सामने आए हैं, जब पोषण आहार बाँटने वाले अधिकारी ही बेचने का कारोबार करने लगे तो आदिवासी और दलित, वंचित बच्चों में कुपोषण और उनकी मौत का सिलसिला कैसे रुकेगा? यही कारण है कि मध्यप्रदेश में करीब 4 हजार करोड़ रुपए खर्च किए जाने के बाद भी कुपोषण

को सभी जिलों से पूरी तरह खत्म नहीं किया जा सका!

मध्यप्रदेश सरकार अपने सालाना बजट में 'आदिवासी उपयोजना' के तहत 33% राशि का प्रावधान करती है। आंगनवाड़ियां, जननी सुरक्षा योजनाएं तथा स्कूलों में मध्याह्न भोजन जैसी योजनाएं चलाई जा रही हैं। इसके बावजूद कुपोषण की समस्या से निजात नहीं मिल सका है।

आदिवासी जंगल में निवास करने वाला समाज है। इसका इतिहास बहुत पुराना है। यह प्राचीनकाल से ही जंगलों में निवास करते हुए प्रकृति से मिलने वाले खाद्य पदार्थ जैसे तेंदू, महुआ, गोंद, भाजी, बेर, सहजन आदि खाकर अपना जीवनयापन करता रहा है। इन खाद्य पदार्थों से आदिवासी समुदाय को पर्याप्त पोषक आहार मिल जाते थे! इसलिए पहले उनके सामने कुपोषण का संकट नहीं था और न उनको खाद्य सुरक्षा के लिए सरकार या समाज पर आश्रित रहना होता था।

- एकता शर्मा धार जिले में स्वतंत्र पत्रकार हैं।

क्योंकि ज़िन्दगी ना मिलेगी दोबारा

स्कूली छात्र और युवाओं की आत्महत्या बनना चाहिए
सामाजिक सरोकार का मुद्दा



पवन श्रीवास्तव

स्कूल और कॉलेज में हमेशा अव्वल रहने के बाद भी भोपाल का 20 वर्षीय गुफरान कादरी मनपसंद जॉब नहीं मिलने के कारण अवसाद से इतने तनाव में था कि उसने डेढ़ महीने से शीशे में अपना चेहरा तक नहीं देखा था। कहीं गलती से भी चेहरा ना दिख जाए, इसलिए उसने आइने पर परदा डाल रखा था। उसने मोबाइल फोन के मेमो पर एक सुसाइड नोट में लिखा 'अगर मैं अच्छे स्कूल में पढ़ लेता, तो शायद कुछ और होता, लेकिन मेरी मौत के लिए कोई जिम्मेदार नहीं है'।

पिछले साल मध्यप्रदेश में 10वीं और 12वीं के परिणाम घोषित होते ही 24 घंटे के अंदर 12 छात्र-छात्राओं ने मौत को गले लगा लिया था। मरने वाले 12 बच्चों में एक भाई-बहन भी शामिल थे। साथ ही भोपाल का एक छात्र भी था जो उम्मीद कर रहा था कि उसे कम से कम 90 प्रतिशत अंक मिलेंगे। मरने वालों में 12वीं कक्षा के 10 बच्चे शामिल थे, जबकि 10वीं कक्षा के दो बच्चे शामिल थे। कम नंबर आने से इन बच्चों के दिमाग में इतना डिप्रेशन आया कि इन्होंने जीने के बजाय, मरना उचित समझा।

10वीं और 12वीं के रिजल्ट घोषित होने और होने के बाद प्रदेश के कई जिलों से कई स्टूडेंट्स ने अपनी जीवनलीला समाप्त कर ली। यह केवल चंद उदाहरण हैं जहां मौत ज़िंदगी से आसान नजर आने लगी है और यही कमोबेश भारत के हर शहर की स्थिति है, दुखद पहलू तो यह है कि जितनी मौतें एक्सीडेंट और बीमारियों से नहीं



हो रहीं, उससे कहीं ज्यादा लोग खुदकुशी करके अपनी जिंदगी को खत्म कर रहे हैं। असफलता और समाज को मुंह ना दिखा पाने के मानसिक अवसाद के कारण बच्चे बड़ी संख्या में मौत को गले लगा रहे हैं।

क्या आज के दौर में जिंदगी जीना इतनी मुश्किल हो चुका है, कि मौत आसान लगने लगी है। एक आत्महत्या को लोग सामान्य घटना लेकर उस पर न तो ज्यादा चर्चा करते हैं और न बहस, क्योंकि आज के समय में आत्महत्या तभी प्रकाश में आती है, जब किसान द्वारा आत्महत्या की जाती है, जबकि किसानों से कई गुना ज्यादा आत्महत्या स्कूली विद्यार्थी और युवक कर रहे हैं।

भारत में हर घंटे एक छात्र आत्महत्या करता है। इसके लिए एनसीआरबी के वर्ष 2015 के आंकड़ों का विश्लेषण किया गया था। केंद्र सरकार के स्वास्थ्य विभाग की ओर से जारी एक रिपोर्ट में दावा किया गया है कि देश में युवाओं की सबसे ज्यादा मौतें आत्महत्या के कारण हुई हैं। मंत्रालय की रिपोर्ट में कहा गया है कि देश में बीमारी या किसी अन्य वजहों से ज्यादा युवाओं की मौत सुसाइड करने से होती है।

हाल ही में केंद्र सरकार ने संसद में बताया कि वर्ष 2014 से 2016 के बीच देश भर में 26,600 छात्र-छात्राओं ने

आत्महत्या की। केंद्रीय गृह राज्य मंत्री हंसराज गंगाराम अहीर ने राज्यसभा को एक प्रश्न के लिखित उत्तर में बताया कि वर्ष 2016 में 9,474 छात्र-छात्राओं ने, वर्ष 2015 में 8,934 छात्र-छात्राओं ने और वर्ष 2014 में 8,068 छात्र-छात्राओं ने आत्महत्या की। 2016 में सर्वाधिक 1,350 मामले महाराष्ट्र में हुए जबकि पश्चिम बंगाल में ऐसे 1,147 मामले, तमिलनाडु में 981 मामले और मध्य प्रदेश में 838 मामले हुए।

पिछले साल मध्यप्रदेश में 10वीं और 12वीं के परिणाम घोषित होते ही 24 घंटे के अंदर 12 छात्र-छात्राओं ने मौत को गले लगा लिया था। मरने वाले 12 बच्चों में एक भाई-बहन भी शामिल थे। भोपाल का एक छात्र भी था जो उम्मीद कर रहा था कि उसे कम से कम 90 प्रतिशत अंक मिलेंगे। मरने वालों में 12वीं कक्षा के 10 बच्चे शामिल थे, जबकि 10वीं कक्षा के दो बच्चे शामिल थे। वहीं परीक्षा के दौरान भी कई बच्चों ने आत्महत्या की थी। पढ़ाई को लेकर प्रदेश में बड़ी तादाद में बच्चे आत्महत्या कर रहे हैं। राज्य विधानसभा में सरकार की तरफ से पेश किए गए पिछले पांच सालों के आंकड़ों पर नजर डालें तो पता चलेगा कि अब तक 685 बच्चे आत्महत्या कर चुके हैं।

- पवन श्रीवास्तव दैनिक जागरण भोपाल में कार्यरत हैं।

बच्चों की दौड़ नंबर तक...



ए. जयजीत

एक छोटे बच्चे की मां किसी शिक्षिका से बहस कर रही थी। वह बार-बार जोर दे रही थी कि उनका बच्चा कुछ लिख ही नहीं पा रहा है। तो आप पढ़ा क्या रही हैं? शिक्षिका उस मां को यह समझाने का भरसक प्रयास कर रही थी कि अभी तो आपका बेटा बहुत छोटा है। उसे थोड़ा बड़ा तो होने दो। अभी तो उसके खेलने-कूदने के दिन हैं। वह पढ़ना भी सीख जाएगा और लिखना भी। लेकिन वह महिला न मानी तो न मानी। आखिरकार उसका एडमिशन दूसरे स्कूल में करवा दिया, ताकि बच्चा तेज हो।

जी हां, महज ढाई साल का बच्चा और अभिभावकों की उम्मीदें देखिए— सब चीजें अभी से सीख जाएं, ताकि वह भविष्य में बड़े एग्जाम क्रैक कर सकें।

यह घटना उस बेरहम प्रतिस्पर्धा की ओर संकेत करती है, जो न केवल बच्चों और एक पूरी पीढ़ी के लिए, बल्कि प्रकारांतर में पूरे समाज के लिए घातक साबित हो सकती है। अब बच्चे को भी एक रेस का घोड़ा मान लिया गया है।

आज हर दूसरे-तीसरे अभिभावक में अपने बच्चे के कॅरिअर को लेकर उसी दिन से एक अजीब किस्म की बेचौनी और जल्दबाजी तारी हो जाती है, हर अभिभावक चाहता है कि उनका बच्चा जल्दी से जल्दी उस प्रतिस्पर्धा के लिए तैयार हो जाए। पिछले साल सीबीएसई बोर्ड की परीक्षा के नतीजों के अनुसार 10वीं बोर्ड में सवा दो लाख बच्चे 90 फीसदी से अधिक और 57 हजार बच्चे 95 फीसदी से ज्यादा नंबर लाए। बारहवीं में दो बच्चों के 500 में से 499 नंबर आए। जबकि एक अन्य बोर्ड



सीआईएससीई की बारहवीं की परीक्षा में तो दो बच्चे 500 में से 500 नंबर लेकर आ गए।

यह सारा परिदृश्य एक नए संकट की ओर इशारा करता है — बच्चों के बचपन पर संकट। नंबरों की इस गलाकाट प्रतिस्पर्धा में बच्चों का बचपन छीना जा रहा है। अपनी ही कॉलोनी के किसी खेल मैदान पर नजर दौड़ा लीजिए, वह सामान्य बच्चों और किशोरों से रहित नजर आएगा। अगर कुछ बच्चे नजर आएंगे भी तो वे जिन्होंने खेल को कैरियर के रूप में चुना है, यानी यहां भी कैरियर के दबाव से युक्त बच्चे।

इस सारी समस्या की जड़ में वह सिस्टम है जो केवल नंबरों को महत्व देता है। बार-बार कहा जा रहा है, सरकार स्वीकार भी कर रही है कि कहीं न कहीं शिक्षा प्रणाली में कुछ तो खोट है, लेकिन उसे दुरुस्त करने के लिए न कोई चिंता दिखती है और न ही सकारात्मक पहल। 'लर्निंग विदाउट बर्डन' (बोझ के बिना शिक्षा), यह बात प्रो. यशपाल ने भारतीय शिक्षा को लेकर दी गई अपनी रिपोर्ट में कही थी। उनका कहना था कि शिक्षा का आंकलन बस्ते के बोझ से नहीं करना चाहिए। और न ही किसी स्टूडेंट की प्रतिभा का आंकलन उसके नंबरों से

किया जा सकता है। कहने की जरूरत नहीं, यह सिफारिश कूड़ेदान के हवाले हो गई, सालों पहले।

प्रो. यशपाल ने यह भी कहा था कि बच्चों को केवल स्कूलों की मोटी-मोटी किताबें पढ़ने को मजबूर करने से बेहतर होगा कि उन्हें समझने का चस्का लगाएं। कोचिंग क्लासेस के फिक्स्ड फॉर्मूलों को रटकर बच्चे आईआईटी की परीक्षाओं में तो सफल हो रहे हैं, लेकिन नई सोच और इनोवेटिव एप्रोच से रहित हैं ये बच्चे। टिस्को के तत्कालीन एमडी बी. मुथुरमन ने तो करीब दस साल पहले ही कह दिया था कि आईआईटी जैसे संस्थानों से पासआउट बच्चे केवल पहले से प्रोग्रामिंग हुए रोबोट की तरह काम करते हैं और उनके दिमाग में कुछ भी इनोवेट करने की कुव्वत नहीं होती। तो भले ही आज हम इस बात पर इतरा लें कि बच्चों को शिक्षा का अधिकार तो मिल गया, लेकिन बच्चों को बचपन का अधिकार कौन देगा? और यह किसी कानून से सुनिश्चित नहीं होगा। इसकी शुरुआत ऊपर से होनी चाहिए, यानी यह तय करना होगा कि बच्चों का आंकलन केवल नंबरों से नहीं होगा।

- ए. जयजीत, दैनिक भास्कर भोपाल में कार्यरत हैं।

नशे में बच्चे



रोहित वर्मा

हमारी हमेशा शिकायत रहती है कि बच्चे नशा करते हैं और फिर नशे की हालत में अपराध करते हैं, लेकिन हम ये कभी नहीं सोचते कि इन बच्चों को नशा कहाँ से मिलता है, इन्हें नशा कौन दे रहा है आपको यकीन नहीं होगा पर कहीं न कहीं हम ही इसके जिम्मेदार हैं, जो दुकान पर बैठकर इन मासूम बच्चों को नशा बेच रहे हैं। समय है कि एक जिम्मेदार नागरिक होने के नाते क्या कभी खुद हमने इस दिशा में सोचा है? किशोर न्याय बालकों की देखरेख और संरक्षण अधिनियम 2015 के अनुसार बच्चे को नशा बेचने पर (धारा 77) के अनुसार सात साल तक की सजा का प्रावधान है, फिर भी राजधानी भोपाल में बच्चों को धड़ल्ले से नशा बेचा जा रहा है। आप शहर के किसी भी कोने में चले जाएं बच्चे को नशा आसानी से उपलब्ध होता है।

नशा केवल शराब की दुकान पर मिलने वाली चीज नहीं है, बल्कि यह पान की दुकानों, गुमठियों पर भी मिलना शुरू हो चुका है। आप यकीन नहीं मानेंगे पर हम जिस दुकान से पान खरीदते हैं, उसी दुकान से आपका बच्चा सिगरेट, गुटखा, तंबाकू आदि खरीदता है। इसके लिए कानून तो है पर उसका सख्ती से पालन नहीं हो पा रहा है।

एक आम नागरिक होने के नाते आप भी बहुत कुछ कर सकते हैं। वक्त है सिटीजन पुलिस बनने का, जहाँ आपकी एक सूचना कई बच्चों को नशे से दूर कर सकती है और उसका भविष्य सुरक्षित कर सकते हैं। शुरुआत के लिए आप अपना ही मोहल्ला चुन लीजिए। यदि हर



मोहल्ले से यह मुहिम फैल जाए तो पूरा शहर बच्चों के लिए नशा मुक्त हो जाएगा। इसके साथ ही नशे की हालत में बच्चों द्वारा किए जा रहे अपराधों पर भी हद तक अंकुश लगाया जा सकता है।

एक बार बच्चा नशे की गिरफ्त में आ जाए तो उसे नशे की लत छुड़ाने नशामुक्ति केंद्र की आवश्यकता होती है, ताकि बच्चे को नशे की गिरफ्त से बाहर निकाला जा सके।

शहर में बच्चों के लिए सरकारी नशामुक्ति केंद्र नहीं होने से बच्चे को नशे की गिरफ्त से बाहर निकालना बहुत मुश्किल होता है। हालांकि ऐसे बच्चों की चाइल्ड लाइन काउंसलिंग तो करता है पर यह बच्चे के लिए पर्याप्त नहीं होता और उसे लंबे समय तक उपचार की जरूरत होती है, जो कि केवल नशामुक्ति केंद्र से ही संभव हो सकता है। इस केंद्र की स्थापना होने से नशे की गिरफ्त में जो बच्चे हैं उनका भविष्य सुधारना संभव हो जाएगा।

बच्चों द्वारा की गई पहल

जब बच्चों को पता चला कि उनके क्षेत्र में बच्चों को नशीला पदार्थ बेचा जा रहा है, जिससे बच्चे नशे की गिरफ्त में आते

जा रहे हैं तो बच्चों ने सामाजिक संस्था आरंभ के साथ मिलकर नशामुक्ति को लेकर अभियान चलाया। इस मुहिम के तहत वे शंकराचार्य नगर के हर दुकान पर पहुंचकर दुकानदारों को इसकी कानूनी जानकारी देने के साथ ही सभी दुकानों पर कानून की जानकारी और होने वाली सजा के साथ ही यहां बच्चों को नशीला पदार्थ नहीं बेचा जाता इसको लेकर पर्चे भी चिपकाए। बच्चों की यह मुहिम रंग लाई। अब इस क्षेत्र में बच्चों को कोई भी दुकानदार नशीला पदार्थ नहीं बेचते।

- रोहित वर्मा पत्रिका भोपाल में कार्यरत हैं।

संप्रेषण गृह के मौजूदा सवाल



अशोक गंगराडे

देशभर में बाल अपराध के मामले जिस तेजी से बढ़ रहे हैं, वह सरकार और समाज के लिए चिंता का विषय होना चाहिए, लेकिन आज दोनों ही बच्चों के भविष्य को लेकर गंभीर नहीं दिखाई दे रहे हैं।

जहां एक ओर सरकार नियम-कानूनों में बदलाव कर बच्चों की सुरक्षा और उन्हें समाज की मुख्यधारा में जोड़ने के कई दावे तो करती है। बच्चों को लेकर अलग-अलग स्तरों पर कई समितियां बना रखी हैं, लेकिन इनका जमीनी स्तर पर कोई असर होता दिखाई नहीं दे रहा है। यही कारण है कि आज इसकी कोई गारंटी नहीं है कि विधि विवादित बच्चा संप्रेषण गृह में कुछ समय रहकर एक नेक, ईमानदार और जिम्मेदारी के साथ अच्छा इंसान भी बनकर निकले।

यह सवाल आज इसलिए खड़ा हो रहा है कि संप्रेषण को जब तक संस्कारों की पाठशाला और रचनात्मक गतिविधियों में तब्दील नहीं किया जाएगा। तब तक सरकार के सारे प्रयास और विधि विवादित बच्चों को समाज की मुख्यधारा में जुड़ने की योजनाएं सफल नहीं हो सकती। इसके लिए जरूरी है कि संप्रेषण गृहों में बच्चों को मुख्यधारा में जोड़ने के लिए एक सकारात्मक माहौल दिया जाए।

बच्चों को अपराध बोध के बाद किसी तरह एक नई जिंदगी की शुरुआत कर सकता है इसके लिए कोई काउंसलर की भी व्यवस्था इस सिस्टम में दिखाई नहीं देती। बच्चों को आत्मनिर्भर और स्वावलंबी बनाने के लिए संप्रेषण गृहों में कोई हुनर भी नहीं सिखाया जाता है। ऐसे कई अनगिनत सवाल हैं जिन पर सरकार को गंभीरता से



विचार करने की जरूरत है।

संप्रेषण गृह में मुख्य रूप से पांच से छह आसपास के जिलों के विवादित बच्चों को रखा जाता है, इनमें कुछ गंभीर प्रकृति के अपराधी बालक होते हैं तो कुछ चोरी और अन्य वारदात करने के आरोप में पकड़े जाते हैं।

इनमें कुछ हालात के मारे होते हैं तो कुछ कभी-कभार बिना गुनाह के भी किसी की अनायास मदद करने के आरोप में पकड़े जाते हैं। सभी बच्चों के गुनाह और उनकी प्रकृति अलग-अलग होती है। ऐसे में सवाल खड़ा होता है कि संप्रेषण गृह में गंभीर अपराध और मारपीट के आरोप में पकड़े गए बच्चों को एक साथ एक ही कमरे में 24 घंटे लंबे समय तक रखा जाएगा तो उनके अंतर्मन पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा।

इसके बारे में भी हमें सोचने की जरूरत है। बच्चे कच्ची मिट्टी के समान होते हैं, उन्हें किसी भी प्रकार के आकार-प्रकार में ढाला जा सकता है। जब संप्रेषण गृह में बच्चों को कोई अच्छे संस्कार, रचनात्मक गतिविधियां और सकारात्मक माहौल नहीं मिलेगा तो हम कल्पना कर सकते हैं कि यही कच्ची मिट्टी का घड़ा क्या आकार लेगा मैं यहां किसी विधि विवादित बच्चे की पैरवी नहीं कर रहा हूं, लेकिन किसी के साथ पहली बार मामूली विवाद या हादसे के रूप में हुए अनायास

अपराध का एक बार ठप्पा लग जाए तो उसे सम्य सम्राज में अच्छा नहीं माना जाता। इसके परिणाम बच्चे को तो भोगने पड़ते ही हैं, उसके माता-पिता को भी असहनीय पीड़ा झेलनी पड़ती है।

एक ऐसे ही संभ्रांत परिवार में पले-बढ़े युवा को मैं जानता हूं, जिससे एक अपराध हो गया था। जब वह कानूनी प्रक्रिया पूरी होने के सालभर बाद संप्रेषण गृह से अपने घर लौटा। उसने कक्षा 10वीं की पढ़ाई शुरू करनी चाही, लेकिन स्कूल में दाखिल इसलिए नहीं दिया गया कि उसने अपराध किया है। वजह यह बताई गई कि इससे वहां पढ़ने वाले दूसरे बच्चों पर गलत असर पड़ेगा। कई आसपास के स्कूलों में भटकने के बाद भी उसे एडमिशन नहीं दिया गया। अंततः उसने प्राइवेट फार्म भरकर ग्रेजुएशन पूरा किया। चूंकि परिवार में अच्छा माहौल मिला तो आज वह अपना खुद का बिजनेस कर रहा है। ऐसे में सवाल उठता है कि बच्चे ने अपराध किया है तो उसे सजा कानून देगा। इसके लिए सरकार की ओर से किशोर न्याय बोर्ड का गठन किया गया है, लेकिन ऐसे बच्चों से शिक्षा का अधिकार छीनकर हम उन्हें वापस उसी दलदल में नहीं धकेल रहे हैं।

- अशोक गंगराड़े दैनिक भास्कर भोपाल में कार्यरत हैं।

किसान के बच्चे, न इज्जत, न पैसा, न भविष्य

किसानों से पूछा कि क्या वे अपने बेटे को किसान बनाना चाहते हैं,
इस पर चौंकाने वाले जवाब मिले



अखिलेश शुक्ला

शहडोल जिले के अमरहा के बाजार में सब्जी बेच रहे भमरहा गांव से आए किसान संकेत सिंह से जब हमने पूछा तो उन्होंने बताया कि वो अपने बेटों को किसान नहीं बनने देंगे, इसके लिए चाहे जितनी मेहनत करनी पड़े, उनकी मजबूरी थी, बेरोजगार थे, जिसके चलते इस पुस्तैनी काम (किसानी) को किया, लेकिन अब चाहे जो हो जाए उनके बच्चे तो नौकरी ही करेंगे।

कठौतिया गांव के किसान लखन सिंह के साथ ही कई ऐसे किसान जिनकी पुस्तैनी खेती है, वो कहते हैं कि अपने बच्चों को पढ़ाया, लेकिन नौकरी नहीं लगी, तो मजबूरी में किसानी करना पड़ा, लेकिन वो बिल्कुल नहीं चाहते थे कि उनके बच्चे किसानी करें, अब खेती महंगा सौदा हो चुका है, यहां मेहनत भी लगती है, पैसा भी लगता है, लेकिन मुनाफा नहीं मिलता। बच्चे खेती को अब फुलटाइम नहीं बल्कि पार्टटाइम कर रहे हैं साथ में पढ़े-लिखे हैं तो थोड़ा बहुत प्राइवेट काम भी करते हैं। उनका कहना है कि अब खेती मात्र से ही घर नहीं चल सकता।

सामतपुर गांव के किसान बट्टी सिंह बड़े किसान हैं, लेकिन फिर भी जिले के अलग-अलग बाजार में जाकर पान दुकान चलाते हैं, उनके दोनों बच्चे बाहर प्राइवेट नौकरी करते हैं, उन्होंने अपने बच्चों को पढ़ाया ही इसीलिए था कि वो किसानी न करें, भले ही 5 हजार की



नौकरी कर लें लेकिन, इस खेती किसानों में न आए। क्योंकि खेती में इस समय सिर्फ समस्या है।

युवा विकास सिंह जो सिगुड़ी गांव के रहने वाले हैं, बी.ए. कर रहे हैं, कहते हैं वो पढ़ाई कर रहे हैं, उनकी पहली प्राथमिकता नौकरी है, फिर बिजनेस है, लेकिन खेती नहीं, क्योंकि आज के समय में किसान सिर्फ राजनीति का मोहरा है। किसानों को नेता बुलाते तो हर जगह हैं लेकिन कभी भी अपने साथ मंच में उन्हें तरजीह नहीं देते, नेता कुर्सी में बैठेंगे किसान जमीन में, युवाओं का साफ कहना था कि वो तो किसी भी कीमत पर किसान नहीं बनेंगे।

अमरहा गांव के किसान बाबूलाल सिंह कहते हैं इस काम में मेहनत है, मुनाफा नहीं, और इज्जत नहीं है, और ना ही ग्लैमर है। बाबूलाल सिंह की उम्र 63 साल है और वो खुद किसानों करते हैं, उनका एक लड़का है उसे खेतों में नहीं बुलाते, वो इंदौर से पढ़कर आया है, कुछ दिन बाहर नौकरी भी किया, और आज अमरहा गांव में ही एक कियोस्क सेंटर चला रहा है, लेकिन बाबूलाल सिंह कहते हैं कि किसानों में है क्या, कोई इज्जत नहीं करता, और न ही इससे कोई नाम होता है, और न ही ग्लैमर है। आज के समय में खेती घाटे का सौदा है।

बाबूलाल सिंह कहते हैं कि अगर एक

नौकरी करने वाला लड़का है, और एक किसान है, भले ही किसान नौकरी वाले लड़के से ज्यादा कमाता हो, लेकिन अगर शादी ब्याह की बात होगी तो उस नौकरी वाले लड़के को तरजीह ज्यादा दी जाएगी, समाज में नौकरी वाले लड़के का मान सम्मान अलग होगा।

कठौतिया गांव के अमर सिंह जोधावत कहते हैं कि सरकारी योजनाओं का फायदा उन्हें ही मिलता है जो लगातार उनके पीछे लगे रहते हैं, इसके लिए बहुत पापड़ बेलने पड़ते हैं, चप्पलें घिस जाती हैं, हम खेतों का काम देखें कि दफ्तर दफ्तर घूमें, अलग-अलग ऑफिस घूमते-घूमते खेती का सीजन भी खत्म हो जाता है, कई किसानों ने तो सरकारी योजनाओं के जमीनी लेवल तक न पहुंच पाने की भी बात कही।

भारतीय किसान संघ के जिला अध्यक्ष भानुप्रताप सिंह कहते हैं कि आज के समय में किसानों घाटे का काम है, समाज में किसान का स्थान बहुत महत्वपूर्ण नहीं है, किसान उपेक्षित है। आज का युवा काम में ग्लैमर ढूँढता है, आकर्षण ढूँढता है, बदलते वक्त का युवा ज्यादा श्रम वाले कार्य नहीं करना चाहता।

● अखिलेश, शहडोल जिले में इलेक्ट्रॉनिक मीडिया से जुड़े पत्रकार हैं।

Slapped if we asked for food

Child Trafficking is a big Problem in Madhya Pradesh



Shuchita Jha

Her eyes dart around like those of a cornered deer. Who to trust, who not to? And if you tell her that she had been “rescued”, she stares blankly.

“When will I go home?” asks the 12-year-old, her dark eyes imploring the members of Child Welfare Committee Few month ago. And follows it up with a question she asks over and over: “Why did my parents send me away with strangers to a strange place when they wouldn't allow me to go the village grocery shop alone earlier?”

Still in a daze after being rescued from bonded labour, this 12-year-old girl from Balaghat district is now in a government-run shelter in Bhopal. Twenty-eight other children were rescued, along with her, by the Telangana GRP when they were being transported from Chennai to an Ahmedabad factory. Most of them are from the primitive Baiga tribe.

She can only speak a smattering of Hindi, so it is difficult to hold a long conversation with her but in bits and pieces, gestures and fear-laden eyes, she describes the torture of what it is like to be a bonded labourer.

Memories of her very first day in Chennai brings the chills. “We were taken to an open field. There was nothing. Just four boundary walls and the open sky. And a tank to draw water from. We were told that was our home... But I had a home, didn't I?”



All 29 kids, 13 of whom were girls, were made to live on open ground. There was no partition. No bed, either. They all slept on hard earth, without even a mat. The shade of a tree was their only comfort and they huddled around it. The bathing area was a small

enclosure of ragged bedsheets. "The boys bathed first," she said.

They were made to work in a mango juice factory in Chennai. The day began at 5am when their minders came to wake them up. Their "shift" was an agonizing 12 hours 8am to 8pm but on paper. In reality, they were pushed beyond that. "I used to remove garbage from the factory, while the other children peeled mangoes and extracted pulp," she said.

"We were always on the verge of starvation, always hungry. They gave us plain rice and dal twice a day. We were not allowed to ask for even little more," she said. "The contractor always hurried us. Eat fast, eat fast and get back to work, he would scream. If we got late while eating, he used to beat the boys and scold the girls. We were very scared of him. There was another man with the contractor who served us food. He only gave us small portions. One day, a boy asked, 'please, can I have some more', and the contractor slapped him. So, we never asked for a second helping," she said.

All of them missed their parents. "Most of us cried ourselves to sleep every night. I missed my mother. If we felt lonely, we used to talk to each other. But, if we cried, the contractor scolded and only talked in whispers at night. There was an older girl who used to hug us and tell us that everything will be fine," she said, adding after a

pause: "When can I go home" Why was I sent away?"

The children were not allowed to rest even if they fell ill or got hurt. "I got injured while working and was unable to walk. I pleaded with the contractor, but he scolded me and sent me back to work. The didi tore a piece of cloth and tied it on my leg," she said, showing her wound, which had not healed even after 15 days.

The kids were supposed to get Rs 1,500 per month, but it was not paid to them. When their work got over in Chennai, they were being sent to Ahmedabad to work in another factory when Telangana GRP rescued them at Khammam station on July 17. They were brought to Bhopal.

● Shuchita is working with Times of India, Bhopal

किताबों से दूर मजदूरी को मजबूर सहरिया जनजाति के बच्चे



सुमित कुमार

किताबों के वजन के बजाय परिवार की जिम्मेदारियों का वजन आज सहरिया जनजाति के बच्चों को किताबों से दूर और मजदूरी के लिए मजबूर करता जा रहा है। परिवार की जिम्मेदारियों ने इनके हाथ से किताब छीन खुरपी और फावड़ा थमा दिया है। इनके कंधों पर स्कूली बस्तों के वजन के बजाय परिवार के दायित्व का वजन इन्हें स्कूल ना ले जाकर खेत-खलिहानों में लाकर खड़ा कर दिया है।

कुछ ऐसे ही हालात हमें विदिशा जिला के नसरतगढ़ के क्षेत्र में मिले। यहाँ तकरीबन 55 से 60 परिवार निवास करते हैं। 44 परिवार पर हुए एक शोध के अनुसार इन परिवारों में 102 बालिकाएँ और 75 बालक हैं। इस शोध में यह पाया गया कि शिक्षा के प्रचार पर सरकार द्वारा करोड़ों रुपये खर्च करने के बावजूद भी यहाँ के ज्यादातर बच्चे 5 वीं या 8 वीं कक्षा के बाद स्कूल छोड़ देते हैं। प्राप्त आंकड़ों में 30 बालिकाएँ और 25 बालक प्राथमिक शिक्षा, 22 बालिकाएँ और 12 बालक माध्यमिक शिक्षा, 9 बालिकाएँ और 3 बालक उच्च विद्यालय शिक्षा, 1 बालक ग्यारहवीं में और 1 बालिका स्नातक में शिक्षा प्राप्त कर रही हैं। इस आँकड़े के माध्यम से देखा जा सकता है कि किस प्रकार बालक और बालिकाओं की शिक्षा की स्थिति में लगातार गिरावट हो रही है।



नसरतगढ़ के सहरिया जनजाति के बच्चों की खराब शिक्षा की स्थिति को लेकर वहां के पार्षद रमेश आदिवासी कहते हैं, नसरतगढ़ में निवासरत सहरिया जनजाति के लोगों की आर्थिक स्थिति बेहद ही खराब है। यहाँ

ज्यादातर लोग अपना गुजर-बसर करने के लिए दूसरों के खेतों में मजदूरी करते हैं। मजदूरी के अलावा इनके पास दूसरा कोई आर्थिक स्रोत नहीं होने के कारण बच्चों को ज्यादा दिन तक स्कूल नहीं भेज पाते हैं। माँ-बाप घर ना चला पाने के कारण अपने बच्चों को स्कूल छोड़वा कर अपने साथ मजदूरी पर ले कर चले जाते हैं।

पार्षद आगे कहते हैं यह स्थिति इनकी पीढ़ी दर पीढ़ी इसलिए भी बनी हुई है क्योंकि मजदूरी पर बचपन से जाने के कारण यह लोग अत्यधिक शिक्षित नहीं हो पा रहे हैं, जिस कारण इनमें आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए कोई अन्य विकल्प नहीं मिल पाता है और पुनः यह अशिक्षित होने के कारण मात्र मजदूरी पर ही आर्थिक रूप से निर्भर हो जाते हैं।

बच्चों के स्कूल ना जाने के दूसरे कारणों में यह है कि नसरतगढ़ के सहरिया जनजाति लगभग 100 वर्ष पूर्व में किसी अन्य क्षेत्र से यहाँ आकर बसे हुए हैं। इनकी बस्ती मुख्य सड़क के बिल्कुल किनारे पर ही है। सड़क की दूसरी ओर लगभग एक किलोमीटर पर एक सरकारी विद्यालय है। मुख्य सड़क होने के कारण इनके मन में कोई अनहोनी होने का भी डर बना रहता है। भरत सिंह सहरिया बताते हैं कि, हम अपने बच्चों को स्कूल भेजना तो चाहते हैं मगर हमारा घर मुख्य सड़क के किनारे ही है।

हम लोग सुबह-सुबह मजदूरी पर चले जाते हैं ऐसे में छोटे बच्चे को एक किलोमीटर की दूरी मुख्य सड़क से गुजरते हुए, सड़क को पार करते हुए स्कूल तक पहुंचना कठिन होता है। अगर ऐसे में बच्चों के साथ कोई सड़क हादसा हो जाये तो उसकी जिम्मेदारी कौन लेगा? यदि बच्चे हमारे साथ मजदूरी पर चलते हैं तो कम से कम वह हमारी निगरानी में सुरक्षित तो रहते हैं।

भरत सिंह की बातों से वहाँ की स्थिति को समझा जा सकता है कि यह लोग सड़क हादसे के डर से भी अपने बच्चों को शिक्षा से जोड़ने को चाह कर भी नहीं जोड़ पा रहे हैं।

मट्टू लाल सहरिया से जब यह पूछा गया कि सरकार तो अब बच्चों को पढ़ाने के लिए पैसा भी देती है, इस पैसे से आप अपने बच्चे को आसानी से पढ़ा सकते हैं, तो वह विफरते हुए कहते हैं, कि यह सही बात है कि बच्चों को पढ़ने के लिए सरकार पैसा देती है लेकिन, सरकार जितना पैसा एक महीने में देती है उतना यदि बच्चा अपने माँ-बाप संग मजदूरी पर चला जाए तो उसे उतना पैसा एक दिन में मिल जाएगा। यहाँ सभी की आर्थिक स्थिति बेहद ही खराब है, महंगाई के दौर में अकेले घर चला पाना बेहद ही मुश्किल है। इसलिए बच्चे मजदूरी में मजदूरी करने जाते हैं और उनके माँ-बाप मजदूरी में ही अपने साथ

अपने बच्चों को मजदूरी पर ले जाते हैं।

विकास को देखना।

11वीं का छात्र विकास सहरिया कहता है कि अपने बच्चों को पढ़ाना तो सब चाहते हैं मगर संसाधन बेहतर नहीं है और गरीबी के कारण मजदूरी करना ज्यादा उचित लगता है। मैं भी बहुत मुश्किल से पढ़ रहा हूँ, और कोशिश है कि आगे कि पढ़ाई करूँगा।

सरोज बाई से जब पूछा गया कि यहाँ लगभग कितने उम्र से बच्चे (लड़के और लड़कियाँ) मजदूरी पर जाते हैं? तो उन्होंने बताया कि लगभग 12-13 वर्ष के उम्र से बच्चे मजदूरी पर जाने लगते हैं। कुछ लोगों के घर में बहुत छोटे बच्चे हैं जिनके देखभाल के लिए कई बच्चे ना तो पढ़ाई करते हैं, ना तो खेलों में मजदूरी करते हैं, वे लोग घर में रहकर अपने छोटे भाई-बहनों की देखभाल करते हैं। इससे यह भी समझा जा सकता है कि छोटे-छोटे बच्चों के कंधे पर घर और परिवार की कितनी बड़ी जिम्मेदारी है और इन सबका कारण अशिक्षा है, और अशिक्षा का कारण आर्थिक तंगी है। इन बच्चों को शिक्षा से जोड़े बिना शिक्षित भारत की कल्पना करना भी बेमानी है। इनको शिक्षित किये बिना आखिर कैसे देश को विश्वगुरु बनाने का सपना पूरा किया जा सकता है। इनके शिक्षा के बिना देश का विकास बिल्कुल वैसा ही दिखाई देता है जैसे हवाई जहाज से उड़ते हुए गड़ढा विहीन सड़क के

सहरिया जनजाति पर हुए शोध के माध्यम से केवल नसरतगढ़ के सहरिया जनजाति के बच्चों की शिक्षा से ना जुड़ पाने का कारण का ही पता नहीं लगाया गया बल्कि यह भी जानने की कोशिश की गई कि ऐसे कौन से कार्य किए जा सकते हैं जिनसे इन्हें शिक्षा जैसे मौलिक अधिकारों से वंचित होने से बचाया जा सके। इसमें कुछ तथ्य जो सामने आये हैं वह यह है कि सबसे पहले इनकी बस्ती को सड़क के किनारे से हटा कर सुरक्षित स्थान पर बसाया जाए। दूसरा बसाई गई बस्ती के बीच ही सरकारी स्कूल की सुविधा उपलब्ध हो और छोटे बच्चों के लिए भी प्ले स्कूल जैसी सरकारी शिक्षण संस्थान मुहैया कराया जाए, वहीं रोजगार के दूसरे विकल्पों में भी प्रशिक्षित करके सबको स्थायी रोजगार मुहैया कराई जा सके, जिससे कि यहाँ के सहरिया जनजाति के परिवार आर्थिक रूप से सबल हो सकें।

जो बच्चे पढ़ रहे हैं उन्हें निरंतर शिक्षा से जोड़कर स्थानीय स्तर पर उनके शिक्षा और आर्थिक स्थिति को सुधार कर समाज की मुख्य धारा में मजबूती से जोड़ा जाए।

- सुमित कुमार विदिशा में स्वतंत्र पत्रकार हैं।

भविष्य के युवाओं को गढ़ने का जरूरी औजार है थियेटर

अशोक नगर वर्तमान में मध्यप्रदेश के उन चंद शहरों में शुमार है,
जहां थियेटर की परंपरा को नई पीढ़ी पूरी शिद्दत से आगे बढ़ा रही है



सचिन श्रीवास्तव

‘मम्मी मुझे कल सुबह 5 बजे जगा देना।’

‘बेटा अभी साढ़े 11 बज गए हैं, थोड़ा लेट उठ जाना।’

‘नहीं, फिर मैं शिविर के लिए लेट हो जाऊंगी।’

‘पता है मुझे, लेकिन शिविर तो 7 बजे से ही शुरू होता है, उसमें भी पहले एक घंटे में मस्ती ही करते हो तुम लोग।’

‘नहीं मुझे सबसे पहले पढ़ूँचना है, कल मुझे पार्क की सारी व्यवस्थाएं देखनी हैं।’

यह एक 11 वर्षीय बच्ची और उसकी मां की देर रात की बातचीत का हिस्सा है। हिंदी पट्टी के भारतीय मध्यमवर्गीय परिवारों में यह आम तो नहीं कहा जा सकता, लेकिन मेरी जानकारी में जहां यह बातचीत आई वहां यह आमफहम है, मध्य प्रदेश के कस्बाई शहर अशोकनगर की। अशोकनगर वर्तमान में मध्य प्रदेश के उन चंद शहरों में शुमार है, जहां थियेटर की परंपरा को नई पीढ़ी पूरी शिद्दत से आगे बढ़ा रही है। इसकी बड़ी वजह है वहां हर साल मई में होने वाला इंडियन पीपुल्स थियेटर एसोसिएशन (इप्टा) का बाल रंग शिविर। 1998 में शुरू हुआ बाल रंग शिविर का सिलसिला अब अशोकनगर के जीवन, संस्कृति का हिस्सा बनते हुए थियेटर से जुड़े हल्कों में यहां की पहचान भी बन गया है। एक बड़ा तबका हर साल बाल शिविर का इंतजार उसी बैचेनी के साथ करता है, जैसे हमारा उत्सवधर्मी समाज विभिन्न त्यौहारों से अपने जीवन के अन्य महत्वपूर्ण कामों



की तारीखें तय करता है।

यह सब अचानक नहीं हुआ है। इसके पीछे गहरी सोच, सुव्यवस्थित कार्यशैली, उत्साही युवाओं की टीम, अनुभवी रंगकर्मियों की दृष्टि और शहर के बाशिंदों की हरसंभव मदद देने की आदत शामिल है। साथ ही शामिल है बच्चों के दिमागों में लगातार चलने वाली सवाल की श्रंखला और बड़ों को सिखाने की उनकी कला। बिल्कुल। असल में बच्चों को सिखाने के दम में हम यह भूल जाते हैं कि हम बच्चों से जो सीखते हैं, वह उसके मुकाबले बहुत ज्यादा है, जो हम सिखाते हैं बशर्ते कि हम सीखने को तैयार हों।

अशोकनगर का यह बाल शिविर अपने आप में हमारी शिक्षा पद्धति और समाज के बीच रिश्ते की पड़ताल का प्रस्थान बिंदु हो सकता है। जो बच्चे स्कूल जाने के समय बजाती घड़ी की टिकटिक को नजरअंदाज कर बिस्तर में दुबके रहना चाहते हैं, वे अगर छुट्टियों के दिनों में भी अपनी नींद कुर्बान कर कुछ सीखने की ललक के साथ अपने सामाजिक दायरे को बढ़ा रहे हैं तो इसके कारणों की पड़ताल करते हुए इसे समझना चाहिए।

1998 में अशोकनगर के बाल रंग शिविर की कार्ययोजना और आज की कार्ययोजना में यह फर्क साफ देखा जा सकता है। उस वक्त बड़ों की भूमिका

ज्यादा थी और बच्चे बतौर प्रशिक्षु पीछे-पीछे होते थे। अब यहां हालात उलट हैं, बच्चे तय करते हैं, निर्णय लेते हैं और बड़ों की जिम्मेदारी होती है कि उसे किसी तरह अमल में लाएं। कई बार बच्चों की तरह से काम नहीं हो पाता है, लेकिन उसके विकल्प भी बच्चे ही ढूंढते हैं।

मेरा सौभाग्य रहा है कि मैं इस पूरे बाल रंग आंदोलन का करीबी दर्शक रहा हूं। 1998 में शिविर के संचालन के साथ प्रशिक्षु भी था और बाद के दिनों में अलग-अलग भूमिकाओं के जरिये जुड़ा रहा। सुबह 6 बजे से शुरू होने वाले इस शिविर में बच्चों को क्राफ्ट, म्यूजिक, बैंक स्टेज, डांस, योग, लेखन के साथ एक्टिंग की विभिन्न परतों से तो परिचित होते ही हैं। वे अपने शहर, समाज, प्रदेश, देश और दुनिया के जरूरी मसलों पर अपनी राय को भी जाहिर करते हैं और हस्तक्षेप के तरीके भी सुझाते हैं।

2006 से शिविर के बच्चों के साथ अखबार प्रकाशन का प्रयोग किया गया था। इस काम के दौरान बच्चों से उनके रोज के अनुभव को डायरी में दर्ज करने को कहा गया। यह सिलसिला लगातार चल रहा है और 10 साल से 17-18 साल तक के बच्चों की डायरियों में दर्ज ईबारतों को पढ़ने के बाद लगता है कि हम बच्चों के बारे में कितना कम जानते

हैं। उनके विषयों का दायरा एक साथ इतना व्यापक और सूक्ष्म है कि सिवाय हैरत के और किसी भाव में हम उसे अभिव्यक्त ही नहीं कर सकते हैं। बच्चों के अखबार में रिपोर्टिंग, इंटरव्यू, लेख, फोटो आदि से जुड़े विशुद्ध पत्रकारीय कौशल को 10 दिनों में सीखना और उसे पूरे मनोयोग से प्रकाशन का रूप देना एक अजूबा ही कहा जाएगा। मामूली बाहरी मदद के सहारे यह बच्चों ने किया है और लगातार कर रहे हैं।

इस बाल रंग शिविर की दो दशकों की शानदार यात्रा में प्रदेश और देश के कई रंगकर्मियों, कवियों, चित्रकारों, संगीतकारों, पत्रकारों ने अपना योगदान दिया है। साथ ही अशोकनगर इष्टा की परिवार की तरह मानी जाने वाली टीम में सीमा राजोरिया, पंकज दीक्षित, विनोद शर्मा, हरिओम राजोरिया, रतनलाल, रामदुलारी शर्मा, मुकेश बिजौले, डॉ. अर्चना, संजय माथुर आदि मुख्य स्तंभ की तरह तमाम मुश्किलों के बीच इस आंदोलन को आगे बढ़ाते रहे हैं।

अशोकनगर इष्टा की अध्यक्ष सीमा राजोरिया बताती हैं कि आज बाल शिविर का हिस्सा रहे करीब 1500 से ज्यादा बच्चे अकेडमिक्स से लेकर पत्रकारिता और सिविल सर्विस से लेकर फिल्म और रंगकर्म तक में सक्रिय हैं। इन बच्चों के परिवार अशोकनगर के रंग आंदोलन का

हिस्सा हैं तो इतने ही परिवार इस अफसोस के साथ जुड़े हैं कि उनके बच्चे अन्यान्य कारणों से शिविर का हिस्सा नहीं बन पाए।

बाल रंग शिविर में एक या दो साल बिता चुके बच्चों और अन्य बच्चों के बीच के फर्क को अशोकनगर का तो कोई भी बाशिंदा बेहद आसानी से बता देगा। आप हम भी अपने रोजमर्रा के जीवन में यह महसूस करते हैं कि थियेटर से बावस्ता रहे लोगों और अन्य लोगों के काम करने के बीच बहुत मामूली लेकिन महत्वपूर्ण फर्क होता है। यह फर्क कई चीजों पर असर डालता है।

कुल मिलाकर, अशोकनगर के उदाहरण से यह समझा जा सकता है कि शिक्षा में थियेटर के मेल के जरिये बड़े बदलाव की नींव तैयार की जा सकती है। हम कल की दुनिया को कैसी शकल देना चाहते हैं यह इसी बात से तय होना है कि हम आज को कैसे गढ़ रहे हैं और इसमें कोई शक नहीं होना चाहिए कि आज अपने बच्चों की सोच को गढ़ने में थियेटर एक अहम भूमिका निभा सकता है। हमारी सरकारें, नीति नियंता और शिक्षा व्यवस्था पर असर डालने वाले लोग इस बात को काश जल्द समझ पाएं।

- सचिन श्रीवास्तव भोपाल में 'द क्राइम इंफो' के एडिटर हैं।

छपते-छपते दो स्टोरीज़ और

यू तो इस किताब में तीस पत्रकार तीस कहानियों का आइडिया था, लेकिन इसे बच्चों के प्रति पत्रकार साथियों की प्रतिबद्धता कहिए कि छपते-छपते भी दो और स्टोरीज़ आ गईं। हम बच्चों के लिए लिखी गई एक भी स्टोरीज़ को नहीं छोड़ सकते, सो सभी पत्रकार साथियों का आभार मानते हुए यह दो स्टोरीज़ और इस किताब में शामिल कर रहे हैं।

पढ़ने की उम्र में हजारों लड़कियाँ बना दी जाती हैं 'बालिका वधू'



पुष्पेन्द्र वैद्य

मध्यप्रदेश में तमाम प्रयासों के बावजूद आज भी हर साल हजारों लड़कियाँ 'बालिका वधू' बनने को अभिशप्त हैं। जिस उम्र में वे हाथों में किताब लेकर आगे पढ़ने का सपना सँजोती हैं, उसी उम्र में उनके हाथों से किताबें छीनकर घर गृहस्थी की डोर पकड़ा दी जाती है।

बालिकाओं की छोटी उम्र में शादी कर देने के पीछे गुंडागर्दी और असामाजिक तत्वों का डर तथा बढ़ती छेड़छाड़ की घटनाओं की आशंका एक प्रमुख कारण बन कर उभरी है। यह दावा इंदौर जिला प्रशासन की एक विशेष शोध रिपोर्ट में सामने आया है।

बीते साल इंदौर शहर में प्रदेश के सर्वाधिक बाल विवाह रोके जाने की घटनाओं के मद्देनजर प्रशासन ने इसके कारणों को खोजने की पहल की तो चौंकाने वाले नतीजे सामने आए। इंदौर के तत्कालीन जिला कलेक्टर पी नरहरी ने इंदौर शहर में वर्ष 2013 से 2015 तक तीन सालों में 150 बाल विवाह रोके जाने के आंकड़े की भयावहता को गम्भीरता से लिया और इसके लिए विशेष जांच कराने की बात महिला एवं बाल विकास अमले तथा चाइल्ड लाइन से कही। उन्होंने ताकीद किया कि वे इसके लिए बाल विवाह करने वाले माता-पिता से सम्पर्क कर यह जानने की कोशिश करें कि आखिर वे अपनी बच्चियों की शादी कम उम्र में क्यों करना चाहते हैं। इसमें जो बिंदु उभर कर सामने आए हैं, इनमें कई चौंकाने वाले हैं।

इस खुलासे से प्रदेश की पुलिस के असामाजिक तत्वों से



निपटने के दावों पर भी सवालिया निशान लगते हैं। बाल विवाह करने वाले परिवारों ने सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण कारण तो छेड़छाड़ से डर बताया है। दरअसल बेटी के बड़ी होने के साथ ही माँ-बाप को उसकी सुरक्षा को लेकर आशंकाएँ होने लगती हैं। ज्यादातर छोटी और दलित बस्तियों में जहाँ माँ-बाप दोनों को ही सुबह से शाम तक काम के सिलसिले में बाहर जाना पड़ता है, वहाँ खौफ और ज्यादा बढ़ जाता है। इसके अलावा बाल विवाह कानूनों की समझ नहीं होना और सामाजिक परम्परा तथा रिवाजों की वजह से भी बच्चियों को बालिका वधू बनाया जाता है। कुछ धार्मिक नियमों से तो कुछ मानते हैं कि बेटी के रजस्वला होने से पहले ही हाथ पीले कर देने से ही कन्यादान का पुण्य मिलता है। कहीं-कहीं आर्थिक स्थिति कमजोर होने से भी माँ-बाप बड़ी बहन या भाई के विवाह के साथ ही उनकी भी शादी निपटाने की बात सोच लेते हैं तो कहीं लंबे समय तक मुहूर्त नहीं होने या आसपास के लड़कों की हरकतों से तंग आकर भी कच्ची उम्र में ही उन्हें बालिका वधू बनने को मजबूर किया जाता है।

इंदौर में बीते साल जनवरी से मई के पांच महीनों में ही 30 मामलों में सरकारी हस्तक्षेप का बाल विवाह रोके गए हैं। सरकार बाल-विवाह के कलंक को जड़ से खत्म करने के लिए तरह-तरह के

कार्यक्रमों, विज्ञापनों के जरिए लोगों को जागरूक करती रही है कि 18 साल से पहले लड़की की शादी कानूनन जुर्म है। इसे गैर जमानती अपराध श्रेणी में रखा है। महिला एवं बाल विकास विभाग बाल विवाह रोकने के लिए प्रयासरत है, इसके बावजूद ऐसी घटनाएँ चिंता का विषय है। हालाँकि अब अच्छी बात यह भी है कि खुद लड़कियाँ परिवार के जल्दी शादी किए जाने के खिलाफ अधिकारियों के सामने अपनी बात रखने लगी है और इनमें से कई बालिका वधू बनने से रोकी भी गई हैं।

मालवा- निमाड़ इलाके में ही ऐसे दर्जन भर से ज्यादा मामले हैं। इंदौर में भी दिव्या राठौर और मुस्कान ने खुद जिला कलेक्टर से गुहार लगाकर अपना बाल विवाह रोकवाने की पहल की।

चाइल्ड लाइन के समन्वयक अविनाश वर्मा बताते हैं कि जिला कलेक्टर के निर्देश पर जो शोध किया है, उससे वे कारण सामने आ सके हैं, जिनसे लोग बाल विवाह करवाते हैं। अब हम इन्हें रोकने के लिए विशेष मुहिम चलाएंगे। अब विवाह पत्रिकाओं में ही उम्र का उल्लेख जरूरी किया गया है वहीं अब इससे जनप्रतिनिधियों को भी जोड़ेंगे। ताकि खिलाड़ियों से खेलने वाली उम्र में किसी भी बालिका को शादी के बंधन का बोझ नहीं उठाना पड़े।

गेहूं पैदावार में अव्वल जिला भी कुपोषण के कलंक से अछूता नहीं



महेश भवरे (प्रयत्न)

क्षेत्रफल की दृष्टि से मप्र का सबसे छोटा हरदा जिला गेहूं पैदावार में अव्वल है। हर साल गेहूं का रकबा भी बढ़ रहा है। उपजाऊ जमीन होने से हर साल प्रति हेक्टेयर गेहूं की पैदावार में भी वृद्धि हो रही है। गेहूं की गुणवत्ता के कारण यहां का गेहूं मप्र के दूसरे जिलों और विदेशों में भी जाता है। इसके बावजूद भी हरदा के माथे से कुपोषण का कलंक मिटने का नाम नहीं ले रहा है। सरकार की तमाम योजनाओं और जमीनी धरातल पर किए जा रहे प्रयास भी इस मामले में नाकाफी साबित हो रहे हैं। शासन और प्रशासन की कथित ईमानदारी का अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि जिला बनने के 20 बाद भी टिमरनी में पोषण पुनर्वास केंद्र नहीं बन सका। यहां बारिश में माताओं को बच्चे गोद में लेकर पलंग पर बैठना पड़ता है।

देश का भविष्य कहलाने वाले नौनिहाल कुपोषण का दंश झेल रहे हैं। आंगनबाड़ी केंद्रों को अपग्रेड करने, जन सहयोग से इनकी तस्वीर बदलने की कवायद चल रही है। लेकिन पोषण पुनर्वास केंद्रों पर पलंग नाकाफी हैं। इस कारण बच्चे भर्ती नहीं हो पाते हैं। जिले में 4 केंद्र हैं। हरेक की क्षमता सिर्फ 10-10 की है। टिमरनी में 10 साल में खुद का भवन नहीं बना। यहां टपकते पानी के बीच मां और बच्चे रहते हैं। अगस्त में 46355 बच्चों का 700 आंगनबाड़ी केंद्रों में वजन हुआ। इनमें 820 कुपोषित निकले। इनमें 440 बालिका व 380 बालक हैं और 7117 बच्चे कम वजन के हैं।

अगस्त में 53904 बच्चों का सर्वे हुआ। इनमें से 46355 का



वजन लिया गया। इनमें 7117 बच्चे कम वजन के थे। इनमें सबसे ज्यादा 2703 बच्चे खिरकिया के हैं। 820 बच्चे अति कम वजन (कुपोषित) मिले। इनमें सर्वाधिक 292 बच्चे खिरकिया ब्लॉक के हैं। हरदा ग्रामीण में भी यही आंकड़ा सामने आया। टिमरनी में 163 व हरदा शहरी में यह आंकड़ा 73 है।

एनआरसी में 10 पलंग, हर माह औसतन 25 बच्चे

जिले के तीनों विकासखंड में करीब 700 आंगनवाड़ी केंद्र हैं। हरदा शहर में इनकी संख्या 83 है। इनमें रोज बच्चों को नास्ता, भोजन व अन्य खाद्य सामग्री दी जाती है। फिर भी कुपोषित बच्चों की संख्या घट नहीं रही है। पौने 5 साल में एनआरसी में 1016 कुपोषित बच्चे मिले। जिन्हें स्वास्थ्य सुधार व वजन बढ़ाने के लिए उनकी माताओं के साथ एनआरसी में रखा। लेकिन यहां सिर्फ 10 ही पलंग हैं। 8 माह में 200 बच्चे भर्ती किए गए। हर माह औसतन 25 बच्चे आते हैं। ऐसे में पलंग खाली न होने पर वापस भेज दिया जाता है।

टिमरनी को 10 साल में नहीं मिला भवन

एनआरसी के लिए अलग से भवन के नियम हैं। टिमरनी में एनआरसी अगस्त 2008 में शुरू हुआ। इसी दौरान

खिरकिया में शुरूआत हुई। खिरकिया में भवन बन गया। लेकिन 10 साल में कई बार शासन से पत्राचार के बाद भी टिमरनी को यह सुविधा नहीं मिली। यहां किराये के भवन में एनआरसी लगता है। इसमें इन दिनों पानी टपकता है। पूरे समय नमी बनी रहती है। ऐसे में माताएं चाहकर भी बच्चों को खेलने के लिए नीचे नहीं छोड़ पाती हैं। ज्यादातर समय गोद में या पलंग पर लेकर बैठना पड़ता है। सरकारी दावें और प्रशासनिक कोशिशों की जमीनी हकीकत को देखने के बाद हम यह सहज ही अंदाजा लगा सकते हैं कि कुपोषण को दूर करने या इसमें कमी लाने के लिए वास्तव में क्या क्या कोशिशें हो रही हैं। सच्चाई यह भी है कि राजनीतिक मुद्दों पर एक दूसरे पर काउंटर अटैक करने वाले राजनीतिक दलों के चुने हुए जनप्रतिनिधि भी कभी स्वास्थ्य व कुपोषण जैसे मुद्दों में ज्यादा रुचि नहीं लेते हैं। इन मुद्दों को जब प्राथमिकता में शामिल किया जाएगा तो धीरे धीरे ही सही लेकिन यह तस्वीर बदलने लगेगी। कुपोषण के आंकड़ों के ग्राफ में गिरावट आएगी।

बच्चों का जीवन सुधारने लोग गोद ले रहे कुपोषितों को

साल 2018 में राज्यपाल आनंदी बेन पटेल हरदा आईं। जिन्होंने कुपोषित बच्चे गोद लेने जनप्रतिनिधियों,

समाजसेवियों को प्रेरित किया। इस पहल का सार्थक बदलाव दिखने लगा है। रेखा विश्‍नोई ने 20 बच्चों को 3—6 माह पौष्टिक आहार, उपचार कर वजन बढ़ाया। नपाध्यक्ष रहीं साधना जैन ने एक कुपोषित बच्चे को गोद लेकर उसे

कुपोषण से उबारा। समाजसेवी अनीता अग्रवाल, वीणा त्रिपाठी आदि ने ऐसा किया। जिन्हें कलेक्टर ने सम्मानित किया। लेकिन करीब सवा 5 लाख की आबादी वाले हरदा में ये उदाहरण उंगलियों पर गिनने लायक हैं।

वर्ष	बालक	बालिका	कुल योग
2015	113	113	226
2016	106	106	211
2017	123	101	224
2018	82	73	155
2019	102	98	200 (31 अगस्त)

स्रोत—महिला बाल विकास विभाग हरदा

इनका कहना है —

कुपोषित बच्चे को आंगनबाड़ी में पोषण आहार नियमित रूप से दे रहे हैं। कम वजन वाले बच्चों को एनआरसी में भर्ती कर वजन में वृद्धि के प्रयास जारी हैं। ज्यादा बच्चे होने पर सीएमएचओ पलंग बढ़ा देते हैं। राष्ट्रीय पोषण माह में जानकारी दे रहे हैं।

— संजय त्रिपाठी

जिला कार्यक्रम अधिकारी, हरदा

आंगनबाड़ी अपग्रेड कर रहे हैं। लोग कुपोषित बच्चे गोद ले रहे हैं। अभियान में सेवाभावी लोगों को जोड़कर हरदा को जिले में आदर्श बनाने की कोशिश जारी है।

— एस.विश्वनाथन

कलेक्टर, हरदा

गेहूं का रकबा		
वर्ष	लक्ष्य	पूर्ति
2011—12	111.80	145.30
2012—13	142.10	145.00
2013—14	111.00	145.00
2014—15	111.80	143.00
2015—16	141.00	155.20
2016—17	141.00	130.00
2018—19	110.00	130.54

स्रोत—कृषि विभाग हरदा



गगन नायर

